समाधि-शतक

(श्री पूज्यपाद आचार्यकृत)

टीकाकार .

(ब्र० सीतल प्रसाद जी)

सम्पादिका .

कु० कुन्दलता जैन

दिशा-बोध :

वीर सेवा मन्दिर

२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

□ प्राप्ति स्थान
शैली शास्त्र सभा,
दि० जैन बड़ा मन्दिर,
कूचा सेठ, दरीबा, दिल्ली-६

□ सपादिका :
कु० कुन्दलता जैन

□ अर्थव्यवस्था
अध्यात्म रसिक, जैन महिला मण्डल,
(शास्त्र-सभा) कूचा सेठ, दिल्ली

□ प्रथम सस्करण
महावीर जयन्ती सन् १९८३

□ मूल्य—स्वाध्याय

□ गीता प्रिंटिंग एजेंसी द्वारा
विन्ध्यवासिनी पैकेजिंग
न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रस्तावना

जीवात्मा ज्ञान, दर्शन, सुख व वीर्य आदि अनन्त गुणो का एक अमूर्तिक पिण्ड है और अनादि से ही इसके साथ मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, आयु, नाम, गोत्र व वेदनीय–इन आठ कर्मों का सयोग हो रहा है। मोहनीय के दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय–ये दो भेद है। जीव के अतरग मे ज्ञान, दर्शन, सुख व वीर्य गुणो का घात हो रहा है जिसमे निमित्त चार घातिया कर्म है और बाकी के चार कर्मो के उदय से इस के साथ शरीर व उसकी विभिन्न अवस्थाओ का सयोग है। अनादि से ही जीव अपने ज्ञान दर्शन स्वरूप को भूला हुआ है और कर्म के उदय से प्राप्त शरीरादि सामग्रियो मे इसने अपनापना माना हुआ है। इन पर-पदार्थों मे अपनापना मान लेने पर अपने अनुकूल सामग्री की प्राप्ति मे राग और प्रतिकूल सामग्री की प्राप्ति मे यह द्वेष करता है। ये राग द्वेष यद्यपि जीव की ही पर्याय मे होते है परन्तु होते है कर्म कृत ही अतएव पर ही है परन्तु जीव इनमे भी अपनापना मानता है कि 'मैने राग किया, द्वेष किया, क्रोध किया व मान किया' आदि। इन शरीरादि पर-द्रव्यो व रागद्वेषादि विकारी भावो मे अपनापना मानना ही जीव के ससार मे रुके रहने का मूल कारण है और इसे ही दर्शन मोहनीय या मिथ्यात्व कहते है। इस पर मे अपनेपने की मिथ्या मान्यता से इसके अनत ससार का व आगामी मिथ्यात्व का बध होता चला जाता है और पहले से सत्ता मे पडा हुआ मिथ्यात्व और अधिक गाढा होता चला जाता है। जीव की पर्याय मे होने वाले रागद्वेषादि विकार भी यद्यपि आगामी बध के कारण है परन्तु वे अल्प बध के कारण ही है, बध का मूल कारण तो कर्म फल मे एकत्व बुद्धि या मिथ्यात्व ही है।

मिथ्यात्व के नाश का और मोक्षमार्ग की प्राप्ति का एकमात्र उपाय यही है कि यह जीव कर्म को तो अपना कार्य करने दे और स्वय अपना काम करे। इसका अपना काम क्या ? यह ज्ञानस्वरूप है अत अपने को ज्ञानस्वरूप ही देखे, जाने और श्रद्धान करे और इस प्रकार अपने मे अपनापन मानकर कर्म और उसके फल मे अर्थात् शरीरादि पर-पदार्थों और रागद्वेषादि परभावो मे अपनापना छोडे। जिस समय जीव अपने ज्ञाता दृष्टा स्वरूप को पहचानता है अर्थात् निज आत्मा की अनुभूति इसके जागृत होती है उसी समय से ये परद्रव्य और परभाव इसे पर दिखाई देने लगते है, मिथ्यात्व व अनतानुबधी विलय को प्राप्त हो जाते है और उन सम्बन्धी बध भी इसके मिट जाते है। अब इसकी पर्याय मे जो भी रागद्वेष व क्रोध मान माया लोभ आदि हो रहे है, मात्र वे ही बध के कारण बचते है। इनमे यद्यपि यह अब अपनापना तो नही मानता पर ये होते

है जीव की पर्याय में ही अत इन सम्बन्धी आकुलता भी होती है और बंध भी होता है पर अब इसे मोक्षमार्ग का व इस चारित्रमोह को भी दूर करने के सम्यक् उपाय का परिज्ञान हो गया है अत· यह अपने ज्ञाता दृष्टा स्वरूप स्वभाव का ही निरन्तर अधिक से अधिक अवलम्बन लेने का प्रयास करता जाता है। उन राग द्वेषादि विकारों को यह अपनी कमजोरी समझता है और ऐसा मानता है कि मुझमे अभी आत्मबल की इतनी कमी है जिससे मै निज आत्मस्वरूप में पूरी तरह से लीन नही हो पा रहा हूं और इसी कारण ये विकार मेरी पर्याय मे हो रहे है। इन विकारो को चारित्रमोहनीय के उदयकृत अर्थात् पर जानते हुए भी इनकी सारी जिम्मेवारी यह अपनी समझता है और इन्हे दूर करने को स्वरूप मे लीनता बढाता जाता है और ऐसा करते-करते एक दिन स्वरूप में पूर्ण रूप से ठहरकर यह केवलज्ञानी परमात्मा हो जाता है।

यह जीव ज्ञान का ही मालिक है, कर्म के आधीन नही है और कर्म के फल मे अपनापना मानने या न मानने मे इसकी स्वतन्त्रता है। कर्म का फल तो इसे यह कहता नही कि तुझको मुझे अपना मानना होगा परन्तु यह अज्ञानी स्वय ही अपने स्वभाव को न पहचानकर उसमे अपनापना मानता है। यदि एक बार भी जोर लगाकर यह अपने को अपने रूप देख ले तो इसकी दृष्टि मे जो पराधीनता घुस गई है वह निकल जायेगी, कर्म और उसका फल तो रहेगा परन्तु उसमे अपनापना नही रहेगा और यह ज्ञान का मालिक हो जायेगा। अपनी ही गल्ती से यह दु·खी और ससारी था, अब ससार मे रहते हुए भी संसारी नही रहेगा। कर्म मे अपनापना अनत ससार है और अपने मे अपनापना मोक्षमार्ग है, अब यह इसे स्वय ही निश्चित करना है कि इसे संसारी रहना है या परमात्मा बनना है। यदि यह परमात्मा बनना चाहे तो अपने को निज रूप अनुभव करे, यह परमात्मा ही है।

आत्मा का स्वभाव तो ज्ञातादृष्टा है, वह तीन काल मे भी मिट नही सकता पर उसके साथ-साथ कर्मकृत कार्य हो रहा है। भीतर मे कर्मकृत क्रोधादि विकार हो रह हैं पर वही कोई है उन्हे जानने वाला भी जो क्रोध को भी जान रहा है और उसके अभाव को भी। वह जानने वाला न तो क्रोध रूप है, न क्रोध का कर्ता है और न ही क्रोध को मेटने वाला है, वह तो दोनो का ज्ञाता है। यह जीव अपना सर्वस्व उस ज्ञाता मे, उस जानने वाले मे स्थापित न करके अपनी श्रद्धा में कर्मकृत कार्य का कर्ता बन जाता है। वास्तव मे यह ज्ञातापने को छोड नही सकता और कर्म का कर्ता हो नही सकता पर अपनी दृष्टि मे यह स्वय को कर्ता मान लेता है। जैसे रस्सी पडी हो और उसे कोई साप मान ले। रस्सी साप हुई नही, वह साप हो नही सकती पर अपनी मिथ्या मान्यता से उसे वह साप दिखाई दे रही है, उसी रूप उसका ज्ञान हो रहा है और उससे डरकर भागने रूप आचरण हो रहा है और इस प्रकार उसके श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र तीनों ही मिथ्या सज्ञा को प्राप्त हो रहे है। वैसे ही यह जीव अपनी श्रद्धा में कर्मकृत कार्य का कर्ता बना हुआ है, उसी रूप इसका ज्ञान हो रहा है और उसके फल रूप में इसका आचरण मिथ्या हो रहा है। मिथ्या श्रद्धा के पीछे-पीछे मिथ्याचारित्र उसकी परछाईं

की तरह आता ही है ।

देखो कितना आश्चर्य कि यह जीव है तो ज्ञाता, पर को जानने के साथ-साथ अपनी परिणति का भी यह ज्ञाता ही है पर अपनी अज्ञानता से यह अपने को पर का कर्ता देख रहा है । जैसे किसी दूसरे के क्रोध को यह दूर से देखता है, न तो उसका कर्ता ही होता है और न भोक्ता ही, वैसे ही अपनी परिणति को भी उतनी ही दूर से यह देखने वाला है, न तो उसका कर्ता ही है और न भोक्ता ही । यह तो ज्ञान है और ज्ञान के अलावा कुछ कर ही नही सकता पर भ्रम से अपने को कर्ता मानता है और कर्ता मान लेने पर ज्ञाता नही रह जाता है क्योंकि यह नियम है कि जो ज्ञाता है वह कर्ता नही और जो कर्ता है वह ज्ञाता नही । एक अधकार है एक प्रकाश है अत. दोनो साथ-साथ नही रह सकते । जैन शासन ज्ञाता का मार्ग है कर्ता का नही । कर्मधारा मे चाहे अशुभ भाव हों चाहे शुभ, चाहे अव्रत रूप हो चाहे व्रत रूप, चाहे हिंसा रूप हो चाहे अहिंसा रूप परन्तु जीव तो उनका मात्र ज्ञाता ही है । भगवान कुन्दकुन्द ने कहा है कि जैसे अव्रतों में कर्तापना मिथ्या अध्यवसाय है वैसे व्रतो मे कर्तापना भी मिथ्या अध्यवसाय ही है । जीव के परिग्रह ग्रहण का अहम् तो मिट जाये पर परिग्रह त्याग का अहम् मिटना बहुत मुश्किल है पर ज्ञाता मे सर्वस्व स्थापित करने पर यह जीव परिग्रह त्याग का भी कर्ता नही रहता ।

वास्तव मे जीव हमेशा आचरण को या भावों को ही बदलने का पुरुषार्थ करता रहा पर इसने कभी भी इनके ज्ञाता बनने का उपाय नही किया । पहले अशुभ भाव, अशुभ कार्य और अशुभ विचारो का कर्ता बनता था फिर धर्म के नाम पर शुभभाव, शुभ क्रिया व शुभ विचारो का कर्ता हो गया परन्तु परभावो का कर्तापना नही मिटा । जहां ज्ञाता में अपनापना आता है वहा शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, स्वर्ग नरक, राग-द्वेष, भला-बुरा, सम्मान-अपमान व ग्रहण-त्याग सभी एक लाइन के दो सिरे हो जाते है और यह दोनो से ऊपर उठ जाता है । अब यह ग्रहण का भी कर्ता नही और त्याग का भी कर्ता नहीं, मात्र ज्ञाता ही है । अब न तो शुभ का कर्ता है और न अशुभ का परन्तु मात्र ज्ञाता है । न तो क्रोध का कर्ता है और न क्रोध का मेटने वाला परन्तु मात्र ज्ञाता है । यही असली मोक्षमार्ग है । दोनों का कर्तापना तभी मिटता है जब जीव ज्ञाता का मालिक बनता है । वह कर्मकृत किसी भी कार्य का किसी काल मे भी कर्ता हो नही सकता, वह तो ज्ञाता ही है अन्यथा हो नही सकता परन्तु भ्रम से जो वह अपने को कर्ता मान लेता है, यही मिथ्यात्व है । कर्ता न माने तो ज्ञाता तो अपने आप ही है, यही उपेक्षावृत्ति है, यही उदासीनता है । भगवान आचार्यो ने पर का कर्तापना छुडाकर ज्ञान का कर्ता कहा और ज्ञान का कर्तापना, जो चारित्रमोह है, उसे छुडाकर ज्ञान मे लीन करवाया और इस प्रकार पर के कर्तापने का तो सवाल ही नही, स्व के कर्तापने का भी विकल्प मिटवाकर जीव को निर्विकल्प में पहुचाया ।

लोग कहते हैं कि कषाय मेटनो है पर कषाय मेटने से कषाय नही मिटेगी जबकि ज्ञाता रहने से कषाय रहेगी ही नही । जहा सूर्य का प्रकाश है वहा अधकार होता ही नहीं । ज्ञाता रूप रहना ही कषाय का न होना है । ऐसा देखा हो गया है कि जब हम

क्रोधादि कषायों और विकल्पों के कर्ता (कर्ता अर्थात् एकत्वरूप) न रहकर और उनसे अलग हटकर ज्ञाता (ज्ञाता अर्थात् दो होना-एक तो जानने वाला और एक जिसको जान रहे हैं वो) हो जाते हैं तब कषाय और विकल्प आदि विलय होने लगते है। मोक्षमार्ग का यही उपाय है और यही भगवान कुन्दकुन्द ने इन्द्रियो को जीतने का और कषायों को जीतने का उपाय बताया है। इन्द्रियों से चेतना शक्ति को अलग करके उन्हे ज्ञेय बना लेना इन्द्रियजित है और क्रोधादि कषायों से चेतना शक्ति को अलग करके उन्हें ज्ञेय बना लेना कषायजित है।

जीव के पर का कर्तापना, अहपना, स्वामित्वपना तभी मिटेगा जब इसके स्व में स्वपना आए। इसके बिना कोई कोटि-कोटि उपाय भी करे, अनन्त बार मुनिपद भी धारे तो भी पर का कर्तापना मिटकर मोक्षमार्ग नही बन सकता। इस ग्रन्थ मे पूज्यपाद स्वामी जीव को बारम्बार सम्बोधित करके कह रहे है कि यह सुन्दर पर्याय तुझे मिली है, इसमे तू एक बार, चाहे मर करके भी अपने को जान ले तो तेरी अज्ञानता दूर हो जायेगी और यह कार्य तू अभी इस क्षेत्र मे, इस काल मे कर सकता है। यह अवसर मिला है, देख निकल न जाये। तुझे केवल तल बदली करना है, शरीर के तल से हट-कर चेतना के तल पर आना है। शरीर के तल पर ठहरकर जब तू देखता है तो अपना शरीर, अपना मकान, अपने स्त्री-पुत्रादि ही अपने दिखाई देते है और अन्य सब पराये। उन पराये दिखने वालो में यदि तू अपनापना मानने की चेष्टा भी करे और मुह से उन्हे अपना भी कहे तो भी उनमे अपनापना नही आता और न ही उनके सुख दुःख मे भीतर से तू सुखी दुखी ही होता है। इसी प्रकार चेतना के तल पर ठहरकर जब तू देखेगा तो जिन्हे शरीर के तल पर अपना देखता जानता था वे भी तुझे पर रूप दिखाई देंगे और अनन्त गुणो का पिण्ड एक अकेला चैतन्य ही निजरूप दिखाई देगा। फिर यदि उन शरीर व स्त्री-पुत्रादि मे तू अपनापना लाने की चेष्टा भी करेगा तो मुह से बेशक अभी उन्हे अपना कहे पर उनमे अपनापना आ नही पायेगा और न ही उनके सुख दु ख मे तू सुखी दु खी ही हो पायेगा।

आचार्य प्रेरणा कर रहे है कि शरीर के तल से हटकर तू अपनी चेतना के तल पर ठहर जा और इस ससार को देख, खूब देख, इसमे तेरा अपना कुछ भी तो नही है। तू ज्ञाता है, ये शरीर आदि सब वस्तुए ज्ञेय हैं। इस नाटक को तू देख, जी भरकर देख, आख बन्द करेगा तो बुरा मानने का दोष लगेगा। यदि तू इसका ज्ञाता ही है तो इसे देखने से दु खी नही हो सकता और यदि कर्ता है तो तेरा दु ख तीर्थंकर भी नही मेट सकते। यह दु ख तेरा अपना पैदा किया हुआ है, तेरी अज्ञानता से ही आया है और तेरी अज्ञानता मिटने से ही जायेगा।

यह कर्मकृत नाटक चल रहा है और तू इसका देखने वाला है। कर्म कभी धनिक बनाता है तो कभी गरीब, कभी मनुष्य का स्वांग भरवाता है तो कभी पशु का और कभी बाप का तो कभी बेटे का। ये चौरासी लाख स्वाग तुझे भरने है। कर्म जैसा कहे वैसा स्वाग भर दे, प्रेम से भर दे, जब स्वाग ही भरना है तो दु खी क्यों होता है ? है

तो ये स्वांग पर तूने इसे वास्तविक मान लिया है इसीलिए तू दुःखी हो रहा है, महा-दु:खी हो रहा है। अच्छा स्वांग मिलने पर तू अपने को सुखी मान लेता है पर वह स्वाग फिर बदल जाता है, वह कोई तेरे आधीन तो है नही, तो उसके बदल जाने पर तू फिर दु:खी हो जाता है। यह स्वांग तुझे दु:खी नही बना रहा है वरन् अपने स्वरूप को भूलना तुझे दु:खी बना रहा है। यदि यह स्वाग करते हुए भी तू अपने को जानता रहे तो फिर तो तू सुखी ही है। तू तो अपने को जान। यह स्वांग करते हुए भी तू उस रूप नही है, तू तो अपने रूप ही है, धनिक का स्वांग करते हुए तू धनिक नही, गरीब का स्वांग करते हुए गरीब नही, मनुष्य का स्वांग करते हुए मनुष्य नही, नारकी का स्वांग करते हुए नारकी नही, तू तो तू ही है, सारे स्वागो से अलग एक अकेला ज्ञाता ही है। जहाँ तूने अपने को अपने रूप में पहचाना वहाँ ये सारा ससार स्वाग हो जायेगा, हो क्या जायेगा, यह तो स्वांग था ही पर तुझे अभी तक दिखाई नही देता था, सो अब यह तुझे स्वांग दिखाई देने लगेगा और तेरा अनतकाल का दु ख विलय हो जायेगा। फिर चाहे इसको उतार कर फेकने में बेशक देरी लगे पर उसकी कुछ परवाह नही है क्योकि अब तेरी दृष्टि जो सही हो गई है।

मोक्षमार्ग कुछ अन्य नही, वह तो मात्र ज्ञातादृष्टा रूप रहना ही है। इसके सिवाय अन्य जो कोई भी साधन हो, वे अगर ज्ञाता दृष्टापने के लिए दूर से, पास मे जिस रूप मे भी सहयोगी हो तो मजूर है परन्तु है वे पर ही। मुख्यता उन साधनो की नही, मुख्यता तो ज्ञातादृष्टा रूप रहने की ही है। दो ही जगह है जहाँ अपने को लगाया जा सकता है-एक तो स्व और दूसरा पर। और इनके दो ही फल हैं। स्व मे लगने का फल मोक्ष, ज्ञान और सुख है और पर मे लगने का फल ससार, अज्ञान व दु.ख है। पर के दो भेद है - एक अशुभ अर्थात् ससार शरीर भोग और दूसरा शुभ अर्थात् देव शास्त्र गुरु। अशुभ मे लगने से पाप बध और शुभ में लगने से यद्यपि पुण्य बध होता है परन्तु यह शुभ भी निजस्वरूप की अपेक्षा पर ही है।

अनंत तीर्थकरों की यही दिव्य ध्वनि है कि जीव का घर तो निजस्वरूप ही है और देव शास्त्र गुरु के माध्यम से भी इसे अपने को ही देखना है। वे इस जीव को यही सम्बोधित करते हैं कि देख! हम भी अपने में लगे हैं, तू भी अपने मे लग जा। जो व्यक्ति अपने घर से दूर था अर्थात् ससार शरीर भोगो मे लग रहा था उसे तो घर के निकट लाये यानि देवशास्त्र गुरु के विकल्प मे लगाया और जो निकट आ गया उसे कहा कि अभी भी तू बाहर ही है, अब घर मे घुस जा अर्थात् भीतर उस निर्विकल्प स्वरूप मे ठहर जा जहाँ न कोई त्याग का विकल्प है न ग्रहण का, न स्व का विकल्प है न पर का, मात्र एक अकेला ज्ञाता दृष्टा चैतन्य प्रभु अपनी महान महिमा सहित विराज रहा है, वही तू है, वही मोक्ष है।

जीव को या तो कभी मोक्षमार्ग को प्राप्त करने की रुचि ही नही हुई और कभी हुई भी तो सही मोक्षमार्ग को इसने पहचाना नही। इसने या तो बाहर मे शरीर की अशुभ क्रिया को शुभ क्रिया मे बदलने को धर्म मान लिया या फिर भीतर में अशुभ परि-

णामों को बदलकर ऊंचे से ऊंचे शुभ भाव करने को मोक्षमार्ग समझ लिया परन्तु जिस समय बाहर में शरीराश्रित क्रिया और भीतर में शुभ परिणाम हो रहे हैं उसी समय कोई जानने वाला भी है भीतर में जो उन दोनों को जानता जा रहा है। उस जानने वाले को ही जानना था जिसे इस अज्ञानो ने नही जाना और उसे जाने बिना अपने से अनजान रहकर संसारमार्गी ही रह गया।

अपने स्वरूप को पहचानने के बाद यह जीव ज्ञानी हो जाता है और फिर यह जब तक परमात्मा नहीं हो जाता तब तक इसके ज्ञानधारा व कर्मधारा ये दोनों धारायें साथ-साथ चलती है। पहले अज्ञानावस्था में भी इसके धाराए तो दो ही थी पर यह ज्ञानधारा को जानता न था और कर्मधारा के होने मे ही अपना होना मानता था। ज्ञानी होने के बाद इसके ज्ञानधारा में अपनापना आया, अब यह कर्मधारा को जानता तो है पर उसका कर्ता नही बनता। अब यह कर्म के फल में जुडे, न जुड़े, कम जुड़े, अधिक जुड़े—यह इसकी स्वतन्त्रता है। जितना यह कर्म के फल में जुड़ता है उतनी तो कर्म के फल को प्राप्ति होती है अर्थात् कर्म का उदय होता है और जितना ज्ञाता रूप रहता है उतना कर्म का उदयभावो क्षय हो जाता है। इतना अवश्य है कि जीव मे जितना आत्मबल होता है उतना ही वह स्वभाव की ओर झुक पाता है। नोचे के गुण-स्थानों मे आत्मबल की कमी के कारण जितना वह चाहता है उतना झुकाव स्वरूप की तरफ वह नही कर पाता पर निरन्तर चेष्टा तो करता ही रहता है। एक बार अब निज घर की पहचान हो गई है तो दिन भर चाहे बाहर पर घरो मे घूमे पर शाम को तो अपने घर आवे ही आवे और पर घरों मे जाते हुए भी वे घर पर ही मालूम दें एवं उनकी अशान्ति व आकुलता भोगते हुए बोच-बोच में अपने घर की शान्ति की याद भी आती रहे और वही बने रहने की वह चेष्टा करता रहे।

उसी चेष्टा के बल पर उसका ज्ञाता मे ठहराव बढ़ने लगता है और कर्मधारा हल्की होतो चली जाती है। जैसे जैसे कर्मधारा हल्की होती जाती है वैसे वैसे गुण-स्थान बदलते जाते हैं और बाहर में श्रावक के व्रत व मुनिपना आदि आता जाता है। उधर मे ज्ञान रूप रहने का काल बढता है इधर कर्मधारा हल्की होती है। इधर कर्म-धारा हल्की होती है उधर ज्ञाता मे ठहराव बढता है। कर्मधारा का हल्का होना ही चरणानुयोग है। एक समय आता है जब मात्र ज्ञानधारा रह जाती है और कर्मधारा का अभाव हो जाता है। मोह अधकार नष्ट हो जाता है और शुक्ल पक्ष की द्वितीया का ज्ञान रूप चन्द्रमा बढते-बढते पूर्णमासी का केवलज्ञान रूप चन्द्रमा हो जाता है। इस प्रकार ज्ञाता के पोछे-पोछे परछाई की तरह सम्यग्चारित्र बढता है। किसके बल पर? अपने निजस्वभाव ज्ञाता के ही बल पर।

जीव को पहले तो शास्त्र से आत्मा के बारे में जानकर भीतर उस ज्ञाता द्रव्य को ही पकडने का पुरुषार्थ करना चाहिए और भीतर मे ज्ञाता पकड में आने पर, उस ज्ञान-स्वरूप आत्मा की अनुभूति होने पर ही स्वयं को ज्ञानी समझना चाहिए, कही ऐसा न हो

कि आत्मज्ञान तो हो नही और शास्त्रज्ञान के आधार पर वह स्वय को ज्ञानी समझ बैठे और कहने लगे कि अपनी पर्याय में होने वाले कषायादि का मै तो कर्ता हू नही क्योंकि शास्त्र में ऐसा ही कहा है कि ज्ञानी कर्ता नही होता और इस प्रकार स्वच्छदी हो जाये। अगर वह कर्ता नही है तो ज्ञाता अवश्य होना चाहिए और यदि ज्ञाता का अनुभव उसे नही हो रहा है तो वह कर्ता जरूर है। ज्ञाता को तो उसने जाना नही और 'मैं ज्ञाता हू' ऐसा विकल्प उठाकर उस विकल्प का वह कर्ता बना हुआ है और इस प्रकार विकल्प मे ही ठहरा हुआ है, वस्तु को प्राप्त नही हुआ। यदि यह पकड मे आ रहा है कि 'मैं आत्मा को जानता हूं' तो यह भी विकल्प ही है क्योंकि इस वाक्य में द्वैतभाव है। जानने वाला और जिसे जाना जा रहा है वह आत्मा–ऐसे दो पदार्थ हो गये पर अनुभूति के समय जानने वाला तो होता है परन्तु उसे जानने वाला कोई और पदार्थ नही रह जाता और तभी वस्तु की प्राप्ति हुई कही जाती है अन्यथा विकल्प ही है। विकल्प का कर्ता राग का कर्ता है क्योकि विकल्प है सो राग है। अगर ज्ञाता पकड़ मे नही आया तो चाहे कितना भी क्यो न कहे कि मैं कर्ता नही परन्तु वस्तुत कर्तापना छूटता नही।

ज्ञानी कभी स्वच्छंदी होता नही क्योंकि अपनी पर्याय मे जितनी कमी है उसकी पूरी जिम्मेवारी वह अपनी समझता है। यद्यपि वह उसका कर्ता नही है क्योंकि यदि वह ज्ञान मे पूर्ण रूप से समा गया होता तो यह नही होती परन्तु अपनी कमी से यह हो रही है इसीलिए कमी का उत्तरदायित्व उसी का है। अज्ञानी ज्ञान का वस्तुत तो मालिक बनता नही और पर्याय की अशुद्धता का उत्तरदायित्व छोड बैठता है जिसका फल स्वच्छन्दता है। अब तक उसे पाप का तो भय था अत उससे बचकर पुण्य कार्यों मे लगने की चेष्टा करता था अब यह भय भी नही रहा अत. खूब पाप कमाकर नरक निगोद की ही तैयारी हो जाती है।

इस ग्रथ का नाम समाधितत्र वा समाधिशतक है। इसमे पूज्यपाद स्वामी ने भेद-विज्ञान को इतने सरल रूप से दिखाया है कि कोई न्याय और व्याकरण को न जानने वाला या शास्त्र-अध्ययन की कोई पिछली भूमिका न रखने वाला व्यक्ति भी इसे आसानी से समझ सकता है। ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने बहुत ही सरल शब्दो मे इसकी टीका की थी। वर्तमान मे यह ग्रन्थ उस टीका के साथ उपलब्ध नही था, ढूढने पर कहीं-कही ही इसकी एक-दो प्रतियाँ मिलती थी। दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर, कूचा सेठ, देहली की रात्रि की शास्त्र-सभा में बैठने वाली कुछ अध्यात्म-रसिक महिलाओ ने मोक्षमार्ग में इस ग्रथ की महती उपयोगिता को समझकर इसे छपाने का निश्चय किया और सम्मिलित होकर इसके लिए धनराशि इकट्ठी की जिसकी सहायता से यह ग्रथ अब प्रकाश में आ रहा है। वे सब महिलाए बहुत-बहुत धन्यवाद की पात्र है क्योंकि यह ग्रंथ जब तक भी जीवित रहेगा तब तक जन-जन के मन की अज्ञानता का विनाश करता ही रहेगा। इस शास्त्रदान अथवा ज्ञानदान के फल रूप में उन सब बहिनो के भीतर भी आत्मज्ञान रूपी सूर्य प्रकाशित हो और वे आत्मकल्याण के पथ पर अति शीघ्रता से बढ़ती ही चली जावें, यही सद्भावना है।

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी की भाषा पुरानी थी उसमें नवीनता लाकर उसे सजाने और संवारने का काम कुमारी कुन्दलता सुपुत्री श्री महताबसिंह जी जैन जौहरी ने बड़ी लगन से किया है और हर जगह छपाई की त्रुटियो को सुधारने और ब्रह्मचारी जी के भाव को अक्षुण्ण बनाये रखने का भी उसने सफल प्रयास किया है जिसके लिए मैं उसे शुभाशीष देता हू । ग्रथ के छपाने के कार्य व प्रेस आदि की व्यवस्था मे संस्था 'वीर सेवा मन्दिर' का पूरा-पूरा सहयोग मिला जिसके लिए उसका धन्यवाद है।

अत मे यही कहना है कि इन सब लोगो की मेहनत तभी सफल मानी जायेगी जब जिस प्रेम, रुचि व श्रद्धा से इन्होने ग्रथ तैयार करवाया उसी प्रेम, रुचि व श्रद्धा के साथ प्रत्येक भाई-बहिन इसका एक बार नही वरन् बार-बार स्वाध्याय करे और इसके द्वारा आत्मस्वरूप को समझकर ध्यान के माध्यम से अपने मे अपने को अपने रूप देखने का पुरुषार्थ करे। शास्त्र तो इशारा है, वह तो वस्तु के स्वरूप व लक्षण को बता देता है पर मात्र उसे जानकर वस्तु की प्राप्ति नही हो जाती। वस्तु की प्राप्ति तो तभी होगी जब हम शास्त्र से उसका लक्षण व स्वरूप पहचानकर भीतर मे, जहा वह आत्मा का खजाना है, वहा उसे खोदकर देखे और उसमे मग्न हो। शास्त्र से मिलाते जाना है और भीतर खोदते जाना है। खुदाई करते समय बीच मे पुण्य रूपी सोने के पत्थर भी निकलेंगे, उनकी चमक मे अटक नही जाना है, उन्हे फेंकते जाना है, वे पत्थर ही हैं। भीतर मे और गहरे और गहरे तब तक खोदते ही चले जाना है जब तक और आगे खोदने को व फेंकने को कुछ भी बाकी न रहे, फिर अत मे जो बचता है वही मैं हू। मैंने इसे आज तक बाहर मे खोजा इसीलिए नही मिला क्योकि बाहर मे यह था ही नही। आज अतर मे खोजा तो वही पाया क्योकि यह तो अनादिकाल से वही था। अरे! यही तो हू मै, यही सच्चिदानद चेतन्य प्रभु और यही तो है इस शास्त्र की निरन्तर स्वाध्याय का फल। स्वाध्याय करते समय मैं न जानता था कि उसके प्रसाद के रूप मे मुझे इतनी रोचक और स्वादिष्ट वस्तु की प्राप्ति होगी। कितनी मनोहर है यह! परम सत्य! शिव रूप! और अतीव सुन्दर! अब एक क्षण भी तो इससे अलग होने का जी नही चाहता है।

—बाबूलाल जैन

सन्मति-विहार
२/१० असारी रोड,
दरियागज, नई दिल्ली-२
दिनाक..................

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

श्रीसमाधि-शतक

दोहा—शुद्ध ज्ञानमय देव जो, राजे मुझ घट व्याप ।
ताकूं अब अनुभव करूं, मिटे मोह संताप ॥
सोरठा—शतक समाधि ग्रन्थ, पूज्यपाद स्वामी रचा ।
आतम अनुभव सार, प्रगटावन को सूर्य सम ॥
दोहा—हिन्दी भाष्य न देख कहुं, लिख टीका सगमार्थ ।
संतन को आनन्दकर, साधा निर्मल स्वार्थ ॥

प्रथम ही संस्कृत टीकाकार प्रभाचन्द्र आचार्य ने जो मंगलाचरण किया है उसका अन्वयार्थ लिखा जाता है—

श्लोक—सिद्धं जिनेन्द्रमलमप्रतिमप्रबोधं,
निर्वाणमार्गममलं विबुधेन्द्रवन्द्यम् ।
संसारसागरसमुत्तरणप्रपोतं,
वक्ष्ये समाधिशतकं प्रणिपत्यवीरम् ॥

अन्वयार्थ—(अहं) मैं प्रभाचन्द्र (विबुधेन्द्रवन्द्यम्) देवेन्द्रों से वंदनीक (अमलं) कर्ममल रहित (निर्वाणमार्गं) मोक्ष के मार्गस्वरूप (संसार-सागरसमुत्तरणप्रपोतं) संसार सागर से पार करने के लिए जहाज के समान (अप्रतिमप्रबोधं) अनुपम केवलज्ञानधारी (सिद्धम्) अपने कार्य को सिद्ध करने वाले श्री (जिनेंद्रम्) जिनेन्द्र (वीरं) महावीर को (प्रणिपत्य) नमस्कार करके (समाधिशतकं) समाधिशतक (वक्ष्ये) की व्याख्या करता हूं (अलम् अव्यय है) ।

अब श्रीसमाधिशतक ग्रन्थ की भाषा वचनिका लिखी जाती है—

श्लोक—येनात्माऽबुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम्।
अक्षयानंतबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥१॥

अन्वयार्थ—(येन) जिसके द्वारा (आत्मा) आत्मा (आत्माएव) आत्मा रूप से ही (च) और (अपरम्) आत्मा से भिन्न सर्व जो कुछ पर है सो (परत्वेन एव) पररूप से ही (अबुध्यत) जाना गया है (तस्मै) उस (अक्षयानंत बोधाय) अविनाशी और अन्तरहित ज्ञान वाले (सिद्धात्मने) सिद्धात्मा को (नमः) नमस्कार हो।

भावार्थ—इस महान् आध्यात्मिक ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए श्री पूज्यपाद स्वामी ने इस श्लोक के द्वारा मंगलमयी श्री सिद्धात्मा को इसी लिए नमस्कार किया है कि अपने आत्म-स्वरूप का अनुभव हो जाए। क्योंकि परम शुद्ध, सर्व-कलंकरहित, निरंजन व स्वाधीन सिद्ध आत्मा में और अपने शरीर में तिष्ठी हुए आत्मा मे यद्यपि व्यक्ति की व प्रदेशों के आकार की अपेक्षा से भिन्नता है तथापि जाति की अपेक्षा से एकता है। जितने गुण सिद्ध परमात्मा में है उतने सब गुण इस अपनी आत्मा में भी निश्चय से अर्थात् वास्तव मे विद्यमान है। वस्तु स्वरूप का विचार करने पर सिद्धों में और अपने घट में विराजित आत्मा में गुणों की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। यद्यपि व्यवहार दृष्टि से आत्मा कर्म-कलंक के न होने से सिद्ध या शुद्ध और कर्मकलंक के होने से संसारी या अशुद्ध कहलाती है तथापि निश्चय दृष्टि से सिद्ध और संसारी आत्मा के स्वरूप और गुणों में समानता है। जैसे निर्मल पानी और मैले पानी में मैल के न होने तथा होने की अपेक्षा से तो अन्तर है परन्तु स्वभाव की अपेक्षा दोनों पानी के स्वभाव में समानता है। मैल से मिले रहने पर भी पानी मैल के स्वभाव रूप नहीं हो जाता। यदि हो जाता होता तो मैला पानी कभी भी निर्मल नहीं हो सकता था परन्तु वह निर्मल होता देखा जाता है।

इसी प्रकार जैसे सिद्ध भगवान अपनी भिन्न सत्ता को सदा रखते हुए अपने स्वभाव में हैं तथा क्रोध, मान, माया, लोभ व कामविकार आदि रूप नहीं हैं, वैसे ही यह अपने शरीर में तिष्ठी हुई आत्मा भी अपनी भिन्न सत्ता को सदा रखती हुई स्वभाव की अपेक्षा अपने चैतन्य स्वभाव में हैं तथा क्रोधादि विकार रूप नहीं है। तथा जैसे सिद्ध भगवान इस जगत में स्थित अन्य सर्व पदार्थों से अपनी सत्ता को भिन्न रखते हैं वैसे यह अपनी आत्मा भी अन्य सर्व द्रव्यों से भिन्न है।

यह जगत छः जाति के मूल द्रव्यों का समुदाय है। वे छः जाति के द्रव्य हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें जीव और पुद्गल अनंतानंत है, धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक है तथा काल असंख्यात हैं जो रत्नों की राशि के समान भिन्न-भिन्न रूप में आकाश के एक-एक प्रदेश पर स्थित हैं। इन छहों द्रव्यों में रूप, रस, गंध, स्पर्श गुण को धरने वाला मात्र पुद्गल द्रव्य है अन्य पांचों नहीं इसीलिए पांच द्रव्य अमूर्तिक और पुद्गल मूर्तिक है। इन छहों की सत्ता स्वतः सिद्ध है।

हम अपने ही भीतर यदि देखें तो चेतनात्मक (ज्ञाता दृष्टा) क्रिया का कर्त्ता जीव स्वयं झलकता है तथा ऐसा प्रत्यक्ष मालूम होता ही है कि शरीर, बर्तन आदि अचेतन जड़ पदार्थ पुद्गल हैं अर्थात् जीव और पुद्गल की प्रगटता हम सबको हो रही है। ये दोनों इस जगत में चार काम करते पाये जाते हैं—(१) गमन करना, (२) गमन से रुक जाना, (३) परिणमन करते रहना अर्थात् अवस्था से अवस्थान्तर रूप होना तथा (४) अवकाश पाना। हर एक काम के लिए उपादान और निमित्त कारण की जरूरत होती है जैसे मिट्टी के घड़े के लिए उपादान या मूल कारण तो वह मिट्टी है जिससे घड़ा बना है तथा निमित्तकारण कुम्हार का चाक, पानी आदि हैं। रोटी बनने के लिए उपादान कारण गेहूं है जब कि निमित्त कारण अग्नि, तवा, बेलन आदि हैं। इन दोनों में से यदि एक कारण न हो तो कार्य कभी नहीं हो सकता। इस न्याय से जो चार क्रियायें जीव और पुद्गल कर रहे हैं उनके लिए भी उपादान व निमित्त

कारण चाहिए, उपादान कारण तो वे स्वयं ही हैं और उनके लिए निमित्तकारण के रूप में ये दूसरे चार द्रव्य भी इस जगत में अपनी सत्ता रखते हैं। गमन में सहकारी धर्मद्रव्य, स्थिति में सहकारी अधर्मद्रव्य, परिणमन में सहकारी कालद्रव्य तथा अवकाश देने में सहकारी आकाश द्रव्य है। इन छहों द्रव्यों के समुदाय का नाम ही यह जगत है।

ये छहों द्रव्य सत् रूप पदार्थ है। जो-जो सत्रूप वस्तुएं होती हैं उनका आदि और अन्त नहीं होता। यह नियम है कि सत् का विनाश और असत् का उत्पाद नहीं होता। यह बात प्रत्यक्ष प्रगट भी है। हम जब किसी अवस्था का होना देखते है तब यही झलकता है कि वह अवस्था अन्य किसी अवस्था के स्थान पर हुई है तथा जब किसी अवस्था का बिगड़ना देखते हैं तब यही मालूम होता है कि यह अवस्था बिगड़ कर दूसरी अवस्था पैदा हुई है। जगत में वस्तुओं की अवस्थाएं ही बिगड़ती और बनती हैं अर्थात् बदलती है किन्तु मूल वस्तुएं सदा बनी रहती हैं। जैसे दस तोले सुवर्ण से हमने एक जंजीर या कंठी बनाई। थोड़े दिन पीछे कंठी तोड़कर उसी सुवर्ण के दो भुजबन्द बना डाले। फिर कुछ काल बाद उन भुजबन्दों को भी तोड़ कर दो कड़े बना डाले और कुछ समय पीछे उनको भी तोड़ कर एक कर्धनी बना डाली। इस तरह सुवर्ण की अवस्थाएं तो बिगड़ीं और बनीं परन्तु मूल सुवर्ण जो दस तोला था वह अपनी सब अवस्थाओं में उतना ही बना रहा (यह बात दूसरी है कि दो चार रत्ती खिरकर कहीं गिर पड़ गया हो) तथा जैसा सुवर्ण था वैसा ही वह बना रहा अर्थात् जो गुण सुवर्ण में थे वे उसमें बराबर बने रहे।

इसी प्रकार जड़ परमाणुओं के मिलने से आत्मा के रहने का स्थान शरीर बनता है तथा जब जड़ परमाणु शिथिल हो बिखरने लगते हैं तब शरीर रूपी घर बिगड़ कर उसकी या उसमें के परमाणुओं की दूसरी अवस्था हो जाती है परन्तु शरीर रूपी घर के बनने और बिगड़ने पर भी मूल वस्तु परमाणु न बनते है और न नष्ट होते हैं। ऐसे ही आत्मा पहिले किसी अन्य देह में थी, वहाँ से दूसरी देह में गई तथा जब वह देह बिगड़ी, तब तीसरी

देह में गई। इन छोटे-बड़े शरीरों के कारण यद्यपि आत्मा की आकार रूप अवस्था तो बदली पर आत्मा न जन्मी, न मरी, न उसका कोई खंड हुआ और न उसमें कुछ आकर मिला। जैसे दीपक का प्रकाश छोटे स्थान में थोड़ा फैलता है व बड़े स्थान में वही ज्यादा फैल जाता है और यदि उसे फिर छोटे पात्र में रख दें तो वह फिर संकुचित हो जाता हैं वैसे ही यह आत्मा छोटी देह में संकुचित होकर छोटी और बड़ी देह में फैल कर जड़ी हो जाती है।

इस ऊपर कहे हेतु से यह सिद्धान्त सिद्ध है कि जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप हो उसे सत् कहते है अर्थात् जो सत् रूप वस्तु है वह अपने स्वरूप व गुणों की अपेक्षा सदा रहती है अतः ध्रौव्य रूप है परन्तु अवस्थाओं की अपेक्षा सदा बनती बिगड़ती रहती है अतः उत्पाद और व्यय रूप है। ये तीन बाते हर समय हर द्रव्य में पाई जाती हैं। कल सवेरे हमने जिस आम के फल को बिलकुल हरा देखा था आज सवेरे हम उसे कुछ पीला पा रहे हैं। हरे से पीले होने रूप उसकी यह अवस्था हर समय धीरे-धीरे हुई है, ऐसा नहीं कि एकदम ही हरे से पीलापन हो गया हो और इस तरह यद्यपि समय-समय वह अवस्था पलटी है तथापि वर्ण गुण तो सदा ही रहा है और उसका आधार जो गुणी रूप आम के परमाणु हैं वे भी सदा ही रहे हैं।

छः द्रव्यों में जीव और पुद्गल को छोड़ कर चार में सदा स्वभाव रूप शुद्ध परिणमन ही होता है। शुद्ध जीवों में भी ऐसा ही स्वभाव रूप शुद्ध परिणमन होता है। शुद्ध पदार्थों में किसी दूसरी विकारक वस्तु के निमित्त के बिना कोई विकार रूप अवस्था नहीं होती जैसे शुद्ध निर्मल पानी में तरंगें तो उठती है पर वे सब निर्मल रूप ही उठती है। अशुद्ध द्रव्यों में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध से विकार रूप अवस्थायें पलटती है जैसे हरे, पीले, लाल डांक के सम्बन्ध से ही स्फटिक मणि के पाषाण में हरे, पीले, लाल रूप विकार होते है एवं संसार अवस्था में कार्माण रूपी सूक्ष्म देह सहित जीव के ज्ञानोपयोग में मोह कर्म के उदय से ही क्रोध, मान, माया,

लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, घृणा व काम आदि विकार झलकते हैं। यदि स्फटिक पाषाण को हरे, पीले, लाल डांक का निमित्त न मिले तो वह निर्मल कांतियुक्त श्वेत रूप ही झलके, ऐसे ही यदि इस आत्मा को जड़ रूप मोह कर्म के उदय का निमित्त न हो तो यह निर्मल ज्ञान दर्शन उपयोगमयी ही झलके। क्योंकि जड़ पदार्थों में हम अवस्था का पलटना प्रत्यक्ष देखते हैं, इसी से यह अनुमानित होता है कि यह परिणमन करना हर एक द्रव्य का स्वभाव ही है और इसी अनुमान से शुद्ध द्रव्यों में उनकी अवस्था का स्वभाव रूप पलटना अनुमानित किया जाता है।

इसी उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप सत् के सिद्धान्त के अनुसार यह सिद्ध है कि यह जगत अनादि अनन्त और अकृत्रिम है, न इसका कोई रचने वाला है और न कोई नाश करने वाला है। अवस्थाओं की जो रचना व विनाश जगत के द्रव्यों में होता है उसमें मूल उपादान कारण तो वे आप ही हैं और निमित्त कारण सब के लिए यद्यपि कालद्रव्य है तथापि विभाव रूप परिणमने वाले जीव और पुद्गलों के लिए अन्य पुद्गल और जीव भी निमित्त हैं अर्थात् जीवों के क्रोधादि भाव होने में पूर्वबद्ध मोह रूप पुद्गलकर्म का उदय निमित्त है तथा पुद्गल कर्म वर्गणा के ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप परिणमन करने में जीव का राग द्वेष मोह परिणाम निमित्त है। पुद्गलों के परमाणु व स्कंधरूप होने में परस्पर पुद्गल ही निमित्त हैं जैसे जल को भाप बनाने में पुद्गल की गर्मी निमित्त है, भाप को मेघ बनाने में पवन की ठंडक निमित्त है, मेघ को फिर से जल बनाने में पुद्गल की गर्मी निमित्त है, किनारे की मिट्टी बहाकर ले जाने में नदी का पानी निमित्त है तथा उसी मिट्टी के किसी स्थान पर जमकर पृथ्वी रूप बन जाने में पानी का उस स्थान में रुकना निमित्त है—इस प्रकार पुद्गलों में बहुत सी अवस्थाएं परस्पर एक-दूसरे के द्वारा होती रहती हैं। किन्हीं-किन्हीं स्कंधों के बनने बिगड़ने में जीव भी निमित्त होते हैं जैसे मिट्टी से घट व मकान बनाने, धातुओं से बर्तन बनाने व अन्न से रसोई बनाने आदि कार्यों में जीवों के योग और उपयोग

का परिरामन निमित्त होता है। (स्मरण रहे कि इस तरह योग और उपयोग का परिरामन केवल उन्हीं जीवों में होता है जिनके साथ कर्मों का सम्बन्ध है, शुद्ध जीवों में नहीं होता।)

जगत के भीतर क्रिया होने की ऐसी ही व्यवस्था है।

सुख और दुःख जो जीवों को होता है उसमें भी पुण्य और पाप कर्म का उदय निमित्त होता है। पुण्य और पाप कर्म के फल काल में यह जीव राग द्वेष मोह करता है और इसी से सुख दुःख का अनुभव करता है। पुण्य के उदय से उत्तम गति में गमन व उत्तम सामग्रियों का लाभ और पाप के उदय से दुर्गति में गमन व बुरी सामग्रियों का लाभ होता है। पुद्गल कर्मों में अद्भुत शक्तियाँ हैं। जैसे मन्त्रवादी द्वारा पढ़े हुए मन्त्रों के प्रभाव से (जो प्रभाव किसी देव या दानव का नहीं किन्तु शब्दों की अचिन्त्य शक्ति का होता है) दूर देश में तिष्ठे हुए मनुष्यों का मन क्षोभित हो जाता है और वे खिचकर पास आ जाते हैं तथा जड़ पदार्थ भी दूर से खिचे चले आते है वैसे ही कर्मों के उदय के प्रभाव से जीव किसी गति में स्वयं चला जाता है और नाना प्रकार की सामग्री वहाँ खिच कर इकट्ठी हो जाती है। जिस तरह नशे के वेग में मनुष्य न चाहते हुए भी कभी लुढ़कता-पुढ़कता है और कभी कुछ कुछ बकता व रोता है उसी तरह कर्मों के फल का प्रभाव भी जानना चाहिए। 'पुद्गल (जड़) में अपूर्व शक्तियाँ है' यह बात आजकल के वैज्ञानिकों ने भी हवाई विमान व बेतार का तार चलाकर प्रत्यक्ष प्रगट कर दिखाई है।

जीव और पुद्गलकर्म का अनादि काल से संयोग संबंध होने के कारण ही यह आत्मा अशुद्ध अवस्था में परिरामन कर रही है और इसमें राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया व लोभ वर्तन कर रहे हैं। इसी पुद्गल कर्म के संबंध से ही इस जीव में हर समय शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग की कभी मन्द व कभी तीव्र आकुलतायें हुआ करती हैं। मोह कर्म के संबंध ही के कारण संसारी प्राणी की बुद्धि में जीव और पुद्गल की भिन्नता नहीं झलकती जिससे वह क्रोध, मान, माया, लोभ को ही आत्मा का स्वभाव

समझता है तथा सुख और शांति जो आत्मा का स्वभाव है उसका अनुभव नहीं करता। पुद्गल के स्वभाव को अपना स्वभाव समझना ही मिथ्यात्व है। इसी मिथ्या भ्रम बुद्धि के कारण यह जीव अपने स्वरूप को नहीं पहचानता और अपनी आत्मा से भिन्न पर पदार्थों को तथा जगत के इन्द्रियविषय सम्बन्धित पदार्थों को अपना इष्ट समझ कर उनसे मोह करता है जिससे राग-द्वेष की इसके तीव्रता रहती है। इसी तीव्रता के कारण यह जीव बहुत कर्मों का बंध करता है तथा उन कर्मों के फल से इस संसार में एक गति से दूसरी गति में भ्रमण करता हुआ इष्ट-वियोग और अनिष्ट संयोग आदि रूप नाना प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक दुःखों को भोगता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा का जो स्वभाव है वह इन कर्मों के सम्बन्ध से प्रकट नहीं हो रहा है और इसमे आत्मा की शोभा नहीं है। वास्तव में हर एक वस्तु अपने स्वभाव मे रहती हुई ही शोभा को प्राप्त होती है। सुवर्ण और मणि की शोभा भी उनकी शुद्धता तथा निर्दोषता में ही हैं, मैला सुवर्ण तथा दोषी मणि कभी भी शोभा को प्राप्त नहीं होते। इसी कारण अनेकों तीर्थंकर, चक्रवर्ती महाराजा व सेठ आदि विचारशील पुरुषों ने अपनी आत्मा को शुद्ध करने अर्थात् कर्मों से मुक्त करने का उपाय किया और आत्म-श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण स्वरूप आत्मानुभव व आत्मज्ञान का आलम्बन लेकर सर्व कर्मों से रहित हो शुद्ध अवस्था का लाभ किया तथा सदा के लिए भवभ्रमण, सांसारिक दुःखजाल, कर्म-बंधन और रागादि दोषों से मुक्ति प्राप्त करके अपने आत्मिक आनन्द के निरन्तर भोग का उदय पा लिया अर्थात् परमात्म अवस्था के अनुपम पद को प्राप्त कर लिया। अनेक ऋषियों ने इसी मार्ग को आत्मा के सुख का उपाय जान कर इस पर चलने का उपदेश भव्य आत्माओं को दिया। परमयोगी श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी इसी हेतु यह उद्यम बांधा है।

आत्म-स्वरूप समझ में आ जाये और उसमें अपनी श्रद्धा जम जाये-इसका सबसे सुगम उपाय यह है कि आत्मा के मुख्य लक्षण तथा

गुणों को समझा जाय। आत्मा में जितने विशेष गुण हैं उनमें ज्ञान, शांति और आनन्द ये तीन अतिशय जरूरी हैं। इन तीन गुणों का निश्चय हो जाने से आत्मा का श्रद्धान व ज्ञान हो जाता है। यदि कोई शांति से विचार करे तो उसको इन तीनों गुणों का अनुभव हो जावे। चेतना का काम जो जाननपना है सो तो प्रत्यक्ष प्रगट ही है। 'शांति आत्मा का स्वभाव है' इसका निश्चय इस अनुमान से होता है कि चेतना की निर्मलता और शांति का एक साथ रहना व काम करना संभव है जब कि शांति से उल्टे क्रोध का ज्ञान के साथ रहना ज्ञान के कार्य में बाधक है। क्रोध ज्ञान को अविचार कर देता है। क्रोध की अवस्था में ज्ञान का मनन नहीं होता जबकि क्रोध के अभाव अर्थात् शांति में होता है। क्रोध के होने पर शरीर भी असुन्दर व असुहावना लगता है जबकि शांति के होने पर असुंदर शरीर भी सुहावना लगता है अतः इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि शांति आत्मा का स्वभाव है। इसी तरह आनन्द भी आत्मा का स्वभाव है। यदि ऐसा न होता तो परमात्मा के शरीरादि के न रहते हुये भी अनन्त सुख नहीं कह सकते थे। जब आत्मा अपने स्वरूप के सच्चे ज्ञान के साथ इतनी शांति रखता है कि उपयोग को आत्मा से बाहर नहीं जाने देता तब इसे स्वयं आनन्द का अनुभव हो जाता है। जहाँ ज्ञान और शांति होती है वहाँ सुख भी अवश्य पाया जाता है यह बात आत्मानुभवी भली प्रकार जानते हैं। संसार में सुख इन्द्रियजनित है या अतीन्द्रिय है। परोपकारी पुरुषों को अपने स्वार्थ के बिना दूसरे का उपकार करते हुए जो सुख मालूम होता है वह सुख मोह के घटने से प्रगट होता है—यही अतीन्द्रिय सुख का चिन्ह है। थोड़े दिन आत्मा के अभ्यास से ऐसा अच्छी तरह अनुभव हो जाता है कि ज्ञान, शांति और सुख आत्मा में ही है।

आत्मा व पुद्गल आदि सर्व ही द्रव्यों में इतने गुण हैं कि उनका ज्ञान सिवाय सर्वज्ञ के दूसरों को नहीं हो सकता। जो अल्पज्ञानी हैं वे पदार्थों के थोड़े से गुण जान कर एक वस्तु को दूसरे से भिन्न जान सकते हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल से

आत्मा को भिन्न पहिचानने के लिए यह जानना जरूरी है कि यह आत्मा चैतन्य-स्वरूप, शांतिमय अर्थात् क्रोधादि विकार रहित, आनन्द-मयी, अमूर्तिक और अपने असंख्यात प्रदेशों को रखते हुये भी शरीर में स्थित शरीराकार है। परमात्मा सिद्ध भगवान जैसे निर्मल, निरंजन व निर्विकार हैं वैसी ही हमारे शरीर में विराजमान आत्मा भी है। जैसा कि श्री देवसेन आचार्य ने तत्वसार में कहा है—

गाथा—जस्स ण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल लेस्साओ।
जाइजरामरणं विय णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥१९॥
णत्थि कला संठाणं मग्गण गुणठाण जीवठाणाइं।
णइ लद्धि बंधठाणा णोदयठाणाइया केई ॥२०॥
फास रस रूव गंधा सद्दावीया य जस्स णत्थि पुणो।
सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥२१॥
मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो ॥२६॥
णोकम्मकम्मरहिओ केवलणाणाइगुणसमिद्धो जो।
सोहं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालंबो ॥२७॥
सिद्धोहं सुद्धोहं अणंतणाणाइगुणसमिद्धोहं।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य ॥२८॥

भावार्थ—जिसके न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न शल्य है, न लेश्या है, न जन्म है, न जरा है, न मरण है और जो निरंजन कहा गया है वही मैं हूं। जिसके न औदारिकादि पांच शरीर हैं, न सम-चतुरस्रादि छह संस्थान हैं, न गति इंद्रिय आदि चौदह मार्गणा हैं, न मिथ्या-त्वादि चौदह गुणस्थान हैं, न जीवस्थान अर्थात् एकेन्द्रियादि चौदह जीव समास हैं, न कर्मों के क्षयोपशम से होने वाले लब्धिस्थान हैं, न कर्मों के बंधस्थान हैं, न कोई उदयस्थान हैं, न जिसके कोई स्पर्श, रस, गंध, वर्ण व

सम्बन्ध आदि हैं परन्तु जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है वही निरंजन मैं हूं। कर्मादि मल से रहित, ज्ञानमयी और सिद्धक्षेत्र में निवास करने वाले सिद्ध भगवान जैसे हैं वैसा ही मेरी देह में स्थित परमब्रह्म को समझना चाहिये। नोकर्म और कर्म से रहित, केवलज्ञानादि गुणों से पूर्ण, शुद्ध, अविनाशी, एक, आलम्बनरहित और स्वाधीन सिद्ध भगवान जो हैं सो ही मैं हूं। मैं ही सिद्ध हूं, मैं ही शुद्ध हूं, अनन्तज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण हूं, अमूर्तीक हूं, नित्य हूं, असंख्यात प्रदेशी हूं और देह प्रमाण हूं—इस तरह अपनी आत्मा को वस्तु स्वरूप की अपेक्षा सिद्ध के समान जानना चाहिये।

इस संसारी आत्मा के जो गति, इंद्रिय आदि होती हैं व मिथ्यात्व से लेकर अयोगी गुणस्थान पर्यन्त गुणों की जो श्रेणियां होती हैं अथवा परिणामों की जो अनेक अवस्थाएं होती हैं उन सबका कारण कर्मों का विकार है अर्थात् कर्मों का तीव्र या मंद उदय है इसीलिए ये सब अवस्थाएं आत्मा के स्वभावरूप हैं ऐसा नहीं कह सकते। जैसे सिद्धों के गुणस्थानादि नहीं हैं वैसे ही स्वरूप की अपेक्षा इस आत्मा के भी नहीं है। निश्चय के ज्ञाता श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने भी ऐसा ही कहा है—

श्लोक :—

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥५

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥७

भावार्थ—वर्ण, रस, गंध, स्पर्शादि भाव या राग, द्वेष, मोहादि भाव—ये सब इस आत्मा से भिन्न भाव हैं इसी कारण जब तत्त्वदृष्टि से या निश्चय नय से अन्तरंग में देखते हैं तो ये कोई भी नहीं दीखते, वहाँ तो केवल एक उत्कृष्ट आत्मा ही दीखता है। ये वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जितनी भी सामग्री है उसकी रचना पुद्गल के द्वारा होती है इसीलिए यह

सब पुद्गल ही है, आत्मा नहीं है। और क्योंकि आत्मा विज्ञानघन है अतः इनसे अन्य है।

जल में चाहे एक कणिका मात्र भी रंग हो पर वह रंग जल का नहीं किन्तु रंग का ही होता है, इसी तरह आत्मा में भी यदि कुछ भी अति सूक्ष्म भी विकार हो तो वह विकार पुद्गल का ही होता है, आत्मा का नहीं—ऐसा जानकर जिसने अपनी आत्मा को अन्य आत्माओं से, पुद्गलादि पांच द्रव्यों से व कर्मोदय के निमित्त से होने वाले समस्त विकारों से भिन्न, परम शुद्ध व सिद्ध समान जाना है तथा आत्मा के सिवाय अन्य जो कुछ अनात्मा या पर है उसको अनात्मा या पररूप से जाना है अर्थात् पुद्गल के गुण पर्यायों को पुद्गल रूप तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल को उनके असली स्वरूप रूप जानकर वैसा ही निश्चय किया है उसको सम्यग्दृष्टि, तत्त्वज्ञानी या महात्मा कहते हैं। उसके भेद ज्ञान रूपी कला अर्थात् ऐसी चतुराई प्रगट होती है कि पुद्गल मिश्रित आत्मा को दूध व पानी के समान मिला देख कर भी विचार व पुरुषार्थ के बल से वह आत्मा को आत्मा रूप और पुद्गल को पुद्गल रूप देख लेता है। इसी भेद ज्ञान के बल से वह ज्ञानी अपने उपयोग को शुद्ध आत्मा के अनुभव में जोड़ने का अर्थात् आत्मध्यान करने का अभ्यास करता जाता है, उस अभ्यास से उसके कर्म मल कटते रहते हैं और एक दिन वह अक्षय अनंत केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। अरहंत होकर आयु प्रमाण जीवन्मुक्त अवस्था में वह रहता है और फिर अंत में सर्व पुद्गलों से रहित हो परम शुद्ध सिद्ध भगवान हो जाता है। यहाँ श्री पूज्यपाद स्वामी ने ऐसी सिद्ध आत्मा को ही नमस्कार किया है। यहाँ 'केवल ज्ञान प्रगट हो गया' ऐसा कहने से केवल दर्शन, अनन्त वीर्य, अनंत सुख एवं क्षायिक सम्यक्त्वादि उन सर्व गुणों की प्रकटता भी समझ लेनी चाहिये जो उस दशा में केवल ज्ञान के साथ प्रकट हो जाते हैं।

सबसे पहले अरहंत को नमस्कार न करके सिद्ध भगवान को जो नमस्कार किया गया है उसका भाव यही है कि पूज्यपाद महाराज को सिद्ध

स्वरूप की प्राप्ति की अतिशय भावना है। यह लोक का नियम है कि जो जिस गुण का अर्थी है वह उस गुण वाले की विनय करता है जैसे धनुष विद्या सीखने का अर्थी धनुष विद्या विशारद की सेवा करता है। नमस्कार के दो भेद हैं—एक द्रव्य नमस्कार, दूसरा भाव नमस्कार। जिसको नमस्कार किया जाय उसके गुणों में अपने उपयोग को जोड़ना सो भाव नमस्कार है तथा उसकी प्रकटता वचन व काय से करना सो द्रव्यनमस्कार है। यहाँ अनुभव के अर्थी आचार्य ने वचनों से श्लोक पढ़ते हुये व अंग को नमाते हुये सिद्धों के गुणों में उपयोग को लगाकर जो आत्मानुभव प्राप्त किया व अपूर्व सुख शांति का लाभ किया सो ही भाव नमस्कार है। इस श्लोक में आधे पद से सिद्ध स्वरूप की प्राप्ति का उपाय बताया गया है और दूसरे आधे पद से उसका फल बताया गया है।

दूसरे श्लोक की उत्थानिका—इस तरह कहे हुये सिद्ध स्वरूप का व उसकी प्राप्ति के उपाय का उपदेश करने वाले जो सकलात्मा अर्थात् शरीर सहित अरहंत परमेष्ठी हैं उनकी स्तुति करते हुए श्री पूज्यपाद भगवान कहते हैं :—

श्लोक—जयन्ति यस्याऽवदतोऽपि भारती
विभूतयस्तीर्थंतोऽप्यनीहितुः।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे
जिनाय तस्मै सकलात्मनेनमः ॥२॥

अन्वयार्थ—(अवदतः अपि) तालु ओष्ठ से हम लोगों के समान न बोलते हुये भी (अनीहितुः अपि) तथा किसी प्रकार की इच्छा न रखते हुये भी (यस्य) जिस (तीर्थंकृतः) तीर्थंकर की (भारतीविभूतयः) वाणी रूपी विभूतियाँ (जयन्ति) जयवन्त हैं (तस्मै) उस (शिवाय) परम कल्याण-मयी, (धात्रे) सन्मार्गोपदेशक, (सुगताय) सम्यग्ज्ञान रूप, (विष्णवे) ज्ञाना-पेक्षा सर्वव्यापक व (जिनाय) कर्मों को जीतने वाले (सकलात्मने) सकल परमात्मा अर्थात् अर्हंत को (नमः) नमस्कार हो।

भावार्थ—यहां पर आचार्य देव ने दिगम्बराम्नाय के अनुसार शरीर सहित केवल ज्ञानी अर्हंत का स्वरूप बतलाया है। उसमें पहले यह बताया है कि वे अर्हंत हम लोगों के समान तालु ओष्ठ से नहीं बोलते किन्तु उनकी दिव्य ध्वनि मेघ की गर्जना के समान अनक्षरी होती है, उसमें किसी भाषा के अक्षर नहीं होते। अरहंत के मोह का सर्वथा नाश हो गया है इसीलिए 'मैं वचन बोलूं' इत्यादि किसी भी प्रकार की इच्छा करके उनके वचन नहीं निकलते, अतः उनको इच्छा रहित भी कहा है। अरहंत अपने स्वरूप में तन्मय हैं, उनके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान नहीं है तथा हमारे समान उनके भी विचार विकल्प होवें यह बात भी वहां सम्भव नहीं है। बिना इच्छा के ध्वनि का निकलना सम्भव भी है। हम लोगों को भी इस बात का अनुभव है कि जिस पाठ को हमको पढ़ने की आदत हुआ करती है वह पाठ अपना उपयोग दूसरी तरफ होने पर भी हमारे मुख से निकल जाया करता है तथा सोते हुये बहुत से लोगों के मुख से भी बिना इच्छा के वचन निकल जाया करते हैं और वे वचन प्रायः वैसे ही होते हैं जिन्हें बोलने का अभ्यास रहा करता है। हमारे शरीर में भी बहुत सी क्रियाएं हमारी इच्छा बिना हुआ करती हैं जैसे आंखों का फड़कना, सिर में दर्द हो जाना, छाती का धड़कना, जम्हाइयों का आना और अभ्यस्त मार्ग पर चलते हुए बिना इच्छा के ही पैरों का स्वयं उठकर चलते जाना। जैसे हम लोगों की बहुत सी वचन व काय की क्रियाएं बिना इच्छा के हो जाती हैं वैसे ही केवली भगवान की भी वचन प्रवृत्ति अर्थात् दिव्य ध्वनि तथा उनका विहार आदि बिना इच्छा के हो जाता है।

विक्रम संवत् ४९ के लगभग होने वाले परम अनुभवी, तत्त्वज्ञानी और वीतरागी योगीश्वर श्री कुंदकुंद महाराज ने अपने श्री प्रवचनसार ग्रन्थ में नीचे लिखी गाथा से भी यही बात कही है :—

गाथा—ठाण णिसेज्ज विहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं ।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं ॥४४॥

भावार्थ—केवलियों के शुद्धात्मतत्त्व से विपरीत मोहनीय कर्म के उदय

का कार्य जो इच्छा, उसका अभाव है इसीलिये उनके खड़ा होना, बैठना, विहार व धर्मोपदेश आदि सब क्रियाएं स्वभाव से बिना इच्छा के वैसे ही होती हैं जैसे स्त्रियों के मायाचार अथवा मेघों का घूमना, गरजना व बरसना आदि स्वभाव से ही होता है।

श्री नियमसार जी में भी स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य ने ऐसा कहा है—

गाथा—ठाण णिसेज्ज विहारा ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो।
तम्हा ण होइ बंधो साकट्ठं मोहनीयस्स ॥१७४॥

भावार्थ—खड़े होना, बैठना, व विहार आदि केवली भगवान के इच्छा पूर्वक नहीं होते इसीलिए उन्हें बंधन नहीं है; मोही जीव के ही इन्द्रिय विषयों के प्रयोजन सहित होने से बंध होता है।

प्रश्न यह होता है कि बिना इच्छा के वाणी खिरती क्यों है? इसका समाधान यह है कि अरहंत के ऐसे कर्मों का उदय है जिससे उनके वचन व काय योग चलता है तथा उनका इस रूप वर्तन होने में निमित्त कारण भव्य जीवों के पुण्य का उदय है। जैसे पुण्यवान् किसानों के खेतों में ही मेघों के ऊपर आ जाने से वर्षा होती है, अपुण्यवानों के खेतों में नहीं, चाहे उनके खेत निकट ही क्यों न हों, वैसे ही पुण्यवान जीवों के देशों में तीर्थंकर का विहार होता है और उन्हें ही उनको दिव्य ध्वनि का लाभ होता है। जगत में बहुत से कार्य परस्पर निमित्त से होते हैं जैसे सूर्य के उदय से कमलों का खिल जाना, चन्द्रकला की वृद्धि से समुद्र की वृद्धि होना, मन की उदासीनता से शरीर का बलहीन हो जाना, अग्नि के निमित्त से भोजन का पक जाना, उष्णता के सम्बन्ध से जल का भाप हो जाना और आम्र वृक्ष के निमित्त से कोयल का बोलना आदि। ऐसे ही भव्य जीवों के पुण्य कर्म के बल से वाणी खिर जाती है।

इसी प्रकार बहुधा देखा जाता है कि किसी सभा में जैसे श्रोता होते हैं वैसा ही व्याख्यान वक्ता के द्वारा हो जाता है, श्रोताओं के निमित्त से वक्ता का वचन धाराबाही निकला चला जाता है। वक्ता के ऐसे व्याख्यानों

में यद्यपि उसके बुद्धि बल की प्रेरणा होती है तथापि बहुत सी वचन वर्गणायें श्रोताओं के सम्बन्ध से स्वयं निकल पड़ती हैं। इसी तरह अर्हंत की वाणी भी मेघध्वनि के समान निकल कर उनके अतिशय के प्रभाव से श्रोताओं की भाषा के अनुकूल परिणमन कर जाती है जिससे भिन्न-भिन्न देशों के मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब अपनी-अपनी भाषा में उसे समझ लेते हैं और इसमें कुछ असम्भव भी नहीं है।

संसार समुद्र से तिरने का उपाय सो तीर्थ है अर्थात् धर्म मार्ग को तीर्थ कहते हैं और इस मार्ग को जो फैलाते हैं उनको तीर्थंकर कहते हैं, यह सामान्य अर्थ है। विशेष भाव यह है कि 'तीर्थंकर' नाम की एक नाम कर्म की प्रकृति है, उसका उदय जिन महापुरुषों के होता है उनको ही तीर्थंकर कहते हैं। यद्यपि सामान्य केवली भी धर्मोपदेश करते हैं परन्तु वे तीर्थंकर इसीलिए नहीं कहलाते क्योंकि उनके नाम कर्म की तीर्थंकर प्रकृति का उदय नहीं होता। तीर्थंकर प्रकृति के उदय के निमित्त से ही इन्द्रादि देव तीर्थंकरों के समवशरण की रचना करते हैं और धर्मोपदेश प्रचार के लिए बड़ी भारी बाहरी प्रभावना करते हैं। यहाँ पर तीर्थंकर शब्द कहने से स्वामी पूज्यपाद ने अपनी भक्ति श्री ऋषभदेव से लेकर श्री महावीर स्वामी पर्यंत चौबीस तीर्थंकरों में ही प्रगट की है। 'ऐसे तीर्थंकर की वाणी जयवंत हो' ऐसा कहने से आशीर्वाद सूचक मंगलाचरण करके ग्रन्थकर्त्ता ने अपनी हार्दिक विनय प्रस्तुत की है। (आचार्य श्री के हृदय का यह भी भाव है कि जिस जिनवाणी के प्रताप से हमको सिद्धों का व सिद्धस्वरूप की प्राप्ति के उपाय का ज्ञान हुआ तथा हमारा अनादि कालीन मोह और अज्ञान दूर होने के कारण स्वरूप का लाभ होने से हमें सुख शांति का अनुभव हुआ और संसार से पार होने का गाढ़ निश्चय हुआ, उस जिनवाणी का पठन-पाठन और मनन सदा ही सबके द्वारा होता रहे जिससे दूसरे नर-नारी भी अंधकार से प्रकाश में आवें।)

ऐसे तीर्थंकर को ही आचार्यदेव ने सच्चा शिव, सच्चा विधाता या ब्रह्मा, सच्चा सुगत या बुद्ध व सच्चा विष्णु कहा है। जगत में कोई मनुष्य या

को भक्ति करके उसको शिव कहते हैं जैसा कि आजकल देखने में आता है कि शिव के भक्त शिवालयों में अर्घा और पिंड की मूर्ति स्थापित कर के उसे शिव मान कर पूजते हैं। यहाँ आचार्य श्री ने यह बताया है कि जिसको स्वात्मा से उत्पन्न अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ हुआ है तथा जो परम सुखमयी मोक्षके सुख में वर्तता है वही शिव है और क्योंकि यह बात तीर्थंकर भगवान ही में प्रगट होती है इससे उन्हीं को यहाँ शिव माना है। जग के लोग जगत के रचने वाले किसी ब्रह्मा को विधाता कहकर पूजते हैं। आचार्य देव ने कहा है कि यह जगत तो अनादि अनंत अकृत्रिम है, इसका कोई रचने वाला नहीं परन्तु जिसने सर्व जनों के उद्धार के लिए सच्चा मोक्ष मार्ग बताया है वही इसका रक्षा कर्ता विधाता है और क्योंकि तीर्थंकर में यह गुण प्रगट है इसीलिए विधाता या ब्रह्मा तीर्थंकर भगवान ही हैं। बौद्धमती पदार्थ को सर्वथा क्षणिक कहने वाले वस्त्रधारी गौतम बुद्ध को सुगत का नाम देकर पूजते हैं। आचार्य देव ने कहा है कि जब वस्तु सर्वथा क्षणिक नहीं किन्तु नित्यानित्यात्मक है अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा नित्य और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है तब बुद्ध यथार्थ ज्ञाता नहीं हो सकते किन्तु तीर्थंकर भगवान ही यथार्थ ज्ञाता अर्थात् सुगत हैं। सु का अर्थ होता है शोभालायक और गत का अर्थ होता है ज्ञान अर्थात् जिसका ज्ञान शोभालायक हो उसे सुगत कहते हैं। और क्योंकि भगवान तीर्थंकर का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान होने के कारण शोभालायक है अतएव वे ही सच्चे सुगत हैं। वैष्णव लोग सर्वव्यापक किसी पालनकर्त्ता ईश्वर को विष्णु मानकर पूजते हैं तथा विष्णु मंदिरों में उनकी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित एवं राधिका रानी को लिए हुए मूर्ति बनाते है। आचार्य कहते हैं कि वहाँ सच्चा विष्णुपना नहीं है क्योंकि जो संसारी राजाओं की भाँति प्रजा का पालन करता है वह सच्चिदानन्दमयी योगीश्वर तथा स्वात्मानुभवी, समदर्शी, वीतरागी, साक्षीभूत, निर्विकार और कृतकृत्य नहीं हो सकता एवं गृहस्थ की मूर्ति परिणामों में वैराग्य भी नहीं ला सकती अतः विष्णु का यह स्वरूप ठीक नहीं है। विष्णु तो सर्वव्यापक को कहते है और क्योंकि केवलज्ञान सर्व ज्ञेयों को जानता है अर्थात् कोई भी वस्तु

केवलज्ञान के जानने से बाहर नहीं रहती अतः केवलज्ञान ही सर्वव्यापक है और तीर्थंकर भगवान के वह केवलज्ञान विद्यमान है इस कारण वे ही सर्वव्यापक अर्थात् सच्चे विष्णु हैं।

उल्लिखित सब संज्ञाओं के बाद आचार्य श्री ने अरहंत भगवान को जिन की संज्ञा दी है। जो वैरियों को जीते उसे जिन कहते हैं। इस आत्मा का मुख्य वैरी दर्शनमोह है तथा गौणरूप से चारित्रमोह, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय कर्म वैरी हैं। तीर्थंकर भगवान ने सबसे पहले चौथे गुणस्थान में दर्शनमोह को जीता, फिर बारहवें गुणस्थान में चारित्रमोह को और तेरहवें में शेष घातिया कर्मों को भी जीत लिया अतः आत्मा के वैरियों को जीत लेने के कारण तीर्थंकर भगवान साक्षात् जिन हैं। सकलात्मा कहने से आचार्य देव ने यह बतलाया है कि वे तीर्थंकर भगवान जिनकी वाणी प्रगट होती है, शरीर रहित नहीं हैं किन्तु शरीरसहित हैं। वाणी क्योंकि जड़ रूप पौद्गलिक होती है और जो निराकार व अमूर्तीक हो उसके द्वारा जड़ रूप वचनों का प्रगट होना सर्वथा असम्भव है अतः धर्मोपदेशकर्त्ता निराकार परमात्मा या सिद्ध नहीं हो सकते किन्तु सशरीरी जीवन्मुक्त अरहंत ही हो सकते हैं। इस कथन से यह आशय भी झलकता है कि जो लोग अपने धर्मग्रन्थों को निराकार ईश्वर द्वारा प्रकट हुआ कहते हैं उनका कथन युक्ति से ठीक नहीं बैठता।

अरहंत भगवान के परम औदारिक, परम शुद्ध और निर्मल शरीर होता है जिसे भूख, प्यास, गर्मी व सर्दी नहीं लगती तथा जिसमें पसीना आदि कोई मैल नहीं होता। अरहन्त भगवान का शरीर चारों ओर से आने वाली नोकर्म वर्गणाओं से उसी तरह पुष्ट होता है जिस तरह एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक पत्थरों व वनस्पतिकायिक वृक्षों का औदारिक शरीर इधर-उधर के परमाणुओं से ही पुष्ट होता तथा बढ़ता है। भगवान को हम लोगों के समान भूख प्यास की वेदना भी नहीं होती। अनंतबल होने से, इच्छाओं का सर्वथा अभाव हो जाने से, मोह का नाश हो जाने से तथा इन्द्रियों का व्यापार न होने से उनमें हम लोगों से बहुत विलक्षणता है।

इस तरह आचार्य प्रभु ने परमानंद का मार्ग बताने वाले श्री अरहन्त परमेष्ठी को नमस्कार करके उनमें अपनी भक्ति प्रगट की है और उनके द्वारा कहे हुए मोक्ष मार्ग में अपने गाढ़ प्रेम का परिचय दिया है तथा भव्य जीवों को भी इसी तरह उनकी विनय, भक्ति व उनसे प्रेम करना चाहिये ऐसा सूचित किया है।

तीसरे श्लोक की उत्थानिका—सिद्ध तथा अरहंत को नमस्कार रूप मंगलाचरण करके अब आचार्य अपनी ज्ञानशक्ति को दिखाते हुए आत्मा का स्वरूप कहने की प्रतिज्ञा करते हैं—

श्लोक—श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्तिः
समाहितान्तःकरणेन सम्यक् ।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां
विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ।।३।।

अन्वयार्थ—(अथ) अब नमस्कार के पीछे मैं (श्रुतेन) शास्त्र के द्वारा, (लिंगेन) अनुमान रूप युक्ति के द्वारा (समाहित अंतःकरणेन) तथा एकाग्र मन के द्वारा (सम्यक्) भली प्रकार (समीक्ष्य) जान करके तथा अनुभव में ले करके (कैवल्यसुखस्पृहाणां) अतीन्द्रिय आनन्द की वांछा करने वालों के लिये (विविक्तम्) अन्य सबसे भिन्न (आत्मानम्) आत्मा के स्वरूप को (यथात्मशक्ति) अपनी शक्ति के अनुसार [अभिधास्ये] कहूंगा।

भावार्थ—यहां पर स्वामी पूज्यपाद ने उनको स्वयं को आत्मा का ज्ञान किस तरह हुआ है इस बात को उचित रीति से बताया है। किसी नई बात का ज्ञान होने के लिये मुख्यता से ये तीन प्रकार होते हैं कि पहले तो उस बात को किसी पुस्तक से या किसी के मुख से जाना जाये, फिर उसको न्याय की युक्ति से बुद्धि द्वारा तोला जाये और फिर एकान्त में बैठ कर अपने मन से सोच कर उस बात को पक्का किया जाय ताकि उसमें किसी भी प्रकार की कोई शंका न रहे। इसी तरह यहां आचार्य श्री ने पहले तो शास्त्रों के द्वारा आत्मा के स्वरूप को जाना जैसा कि कुन्दकुन्द

महाराज ने श्री नियमसार जी तथा श्री समयसार जी में क्रमशः बताया है :—

गाथा—एको मे सासदो आदा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिराभावा सव्वे संजोगलक्खणा ।।१०२।। तथा
अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणाणमइओ सयारूवी ।
ण वि अत्थि मम किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तंपि ।।३८।।

भावार्थ—मेरा आत्मा एक अकेला, अविनाशी व ज्ञान दर्शन लक्षण को रखने वाला है, शेष मेरे स्वरूप से बाहर जितने रागद्वेषादि भाव हैं वे संयोग से उत्पन्न हुए हैं तथा मैं एक अकेला हूं, शुद्ध हूं, दर्शनज्ञानमयी हूं, अरूपी हूं, निश्चय से सदाकाल ऐसा हूं एवं अन्य पर द्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नहीं है ।

इस प्रकार द्रव्यानुयोग के ग्रंथों से आत्मा का लक्षण व स्वरूप भली प्रकार जान कर आचार्य श्री ने उस लक्षण को ध्यान में रख कर अनुमान की युक्ति से फिर इस तरह विचार किया कि शरीरादि से आत्मा भिन्न है क्योंकि उन दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न है और जिन-जिनका लक्षण भिन्न-भिन्न होता है उन-उन पदार्थों में भेद होता है जैसे जल और अग्नि में। जल और अग्नि दो पदार्थ हैं क्योंकि उनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं—जल शीतल है और अग्नि उष्ण है । आत्मा और शरीर का भिन्न-भिन्न लक्षण भी प्रगट है । आत्मा का लक्षण तो उपयोग स्वरूप अर्थात् जानना, देखना है तथा शरीरादि जड़ पदार्थों का लक्षण अनुपयोग अर्थात् कुछ नहीं जानना है । जब तक आत्मा हमारे शरीर में रहती है तब तक ही हम इन्द्रियों से या मन से जान सकते हैं, आत्मा के चले जाने पर चक्षु आदि इन्द्रियों के होते हुए भी उनसे कुछ बोध नहीं होता । आत्मा का लक्षण चेतना सर्वथा अबाधित भी है, इसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असंभव दोष नहीं है । क्योंकि चेतनपना सर्व संसारी तथा सिद्ध आत्माओं में है इसीलिए अव्याप्ति दोष नहीं है, यदि किसी एक में भी न होता तो अव्याप्ति दोष आजाता, चेतनपना सिवाय आत्मा के अन्य पुद्गलादि

पाँचों द्रव्यों में नहीं है इसीलिये अतिव्याप्ति दोष भी नहीं है और चेतनपने का कार्य हम कर ही रहे हैं इस कारण यह चेतनपना असंभव भी नहीं है।

इस तरह उन्होंने युक्ति के द्वारा आत्मा का निर्णय करके फिर उस आत्मा का एकाग्र मन के द्वारा अनुभव किया अर्थात् शास्त्र से व युक्ति से जब उन्हें यह मालूम हुआ कि आत्मा ज्ञानदर्शनमयी, अमूर्त्तीक, असंख्यात प्रदेशी, शरीर में विराजित, शुद्ध स्फटिक के समान परम निर्मल, राग द्वेषादि विकारों से रहित, सिद्ध सम तथा परमानंद रूप है तब अपने उपयोग को अपने भीतर लगाकर तथा सर्व परद्रव्य तथा परभावों से उपयोग को हटाकर श्रद्धा में आए हुए आत्मस्वरूप का उन्होंने अनुभव किया और तब उन्हें अतीन्द्रिय आनन्द भासा--इस तरह स्वानुभव से आत्मा का पक्का निर्णय उन्होंने प्राप्त किया।

इस प्रकार तीन तरह से आत्मा को भली प्रकार संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय रहित जान कर तथा अनुभव करके स्वामी पूज्यपाद कहते हैं कि मेरा कथन वही होगा जो मैंने अपने अनुभव से समझा है। अपने कथन का प्रामाणिकपना कह कर आचार्य प्रतिज्ञा करते है कि मैं शुद्ध आत्मा का स्वरूप इसीलिए कहूंगा जिससे शिष्यों को सर्व परद्रव्यों, परभावों व परद्रव्यों के निमित्त से होने वाले अपने भावों से भिन्न शुद्ध आत्मा का बोध हो जाये। यह प्रयास आचार्य श्री ने इसलिये किया है कि इस जगत में बहुत से मानवों को इंद्रिय सुखों से तृप्ति नहीं मिलती तथा जब उनकी आकुलता नहीं मिटती तब वे निराकुल सुख की वांछा करते हैं और ऐसे निराकुल सुख की चाह करने वाले जीवों को यदि आत्मा का ज्ञान हो जाये तो वे आत्मा को जान करके स्वयं अतीन्द्रिय सुख व शांति को प्राप्त कर लें।

इस श्लोक से आचार्य देव ने यह ध्वनि भी निकाली है कि जिनको इन्द्रिय सुखों की तृष्णा है, उनके लिये इस ग्रंथ का पढ़ना कार्यकारी न होगा किंतु जो सच्चे सुख के इच्छुक हैं व शांति को चाहते हैं उन्हें ही इस

ग्रंथ को भली प्रकार समझना चाहिए तथा जैसे आचार्य श्री ने आत्मा को पहले आगमद्वारा जाना, फिर युक्ति से विचारा और फिर स्वानुभव से उसका पक्का निर्णय किया उसी तरह उन्हें भी आत्मा को आगम द्वारा जान, युक्ति से विचार, स्वानुभव से उसका निर्णय करना चाहिये तभी उनको आत्मज्ञान होगा तथा सुख शान्ति का लाभ होगा।

आगे के श्लोक की उत्थानिका—'जब शुद्ध आत्मा की इतनी विशेषता कही तो क्या आत्मा के कई भेद होते हैं', इस शंका को दूर करने के लिए अब आचार्य आत्मा के भेदों को बताते हैं—

श्लोक—बहिरन्तः परश्चेति त्रिधाऽऽत्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥४॥

अन्वयार्थ—(सर्व देहिषु) सर्व प्राणियों में (बहिः) बहिरात्मा, (अन्तः) अन्तरात्मा (च परः) और परमात्मा (इति) इस तरह (त्रिधा) तीन प्रकार की (आत्मा) आत्मा है। (तत्र) उनमें से (बहिः) बहिरात्मपने को (त्यजेत्) छोड़ना चाहिये और (मध्योपायात्) अंतरात्मा रूप उपाय से (परमं) परमात्मपने का (उपेयात्) साधन करना चाहिये।

भावार्थ—यहां पर आचार्य महाराज ने आत्मा की तीन अवस्थाएं बताई हैं। जो आत्मा अपने को आत्मरूप न जान कर शरीररूप व रागद्वेष रूप ही जानता है तथा आत्मा के सच्चे सुख व उसकी शांति को नहीं पहचानता वह बहिरात्मा है। जो आत्मा आत्मा को आत्मारूप, परमात्मा की शक्ति को पूर्णपने रखने वाला, शरीर व रागद्वेषादि से भिन्न, शुद्ध ज्ञाता दृष्टा तथा उत्पादव्यय ध्रौव्य रूप द्रव्य जानता है और उसी में सच्चे सुख व शांति को पहचानता है वह अन्तरात्मा है तथा जो आत्मा व्यक्ति से पूर्ण, सर्वज्ञ, वीतराग व शुद्ध हो गया है वह परमात्मा है। एक ही आत्मा में ये तीन अवस्थाएं हो सकती हैं। जब तक आत्मा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है तब तक बहिरात्मा है, जब मिथ्यात्व व अज्ञान को मेट कर

वह सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी होता है तब अन्तरात्मा है और जब सारे कर्मबंधनों का नाश कर शुद्ध हो जाता है तब परमात्मा है ।

यहां पर द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य की अपेक्षा कथन करते हुए हरएक आत्मा में तीन अवस्थाएं कही जा सकती हैं । जो निकट भव्य हैं उनमें जब तक वे मिथ्यात्वी हैं तब तक बहिरात्मपना तो वर्तमान में है ही तथा अन्तरात्मपना व परमात्मपना उनमें नैगम नय से है क्योंकि वह भविष्य में अवश्य होगा । जो परमात्मा हैं उनमें पहली दो अवस्थाएं भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा से हैं अर्थात् पहिले हो चुकी हैं तथा जो अभव्य व दूरानुदूर भव्य हैं उनकी आत्मा में भी द्रव्य की शक्ति की अपेक्षा तो अन्तरात्मपना व परमात्मपना विद्यमान है परन्तु उनके कर्मों का आवरण इस जाति का है कि उनको उन अवस्थाओं की प्राप्ति की सामग्री का लाभ कभी न होगा ।

प्रयोजन आचार्य श्री का केवल आत्मा की तीन दशाएँ बताने का है । इन तीन दशाओं में से जो बहिरात्मपना अर्थात् मिथ्यादृष्टि व अज्ञानपना है सो सब तरह से त्यागने योग्य है क्योंकि उस दशा में यह प्राणी अपने स्वरूप को व सच्चे सुख को न जान कर इंद्रियों की इच्छाओं के वश में पड़ा हुआ रात्रि दिन उन्हीं की तृप्ति के यत्न में मग्न रहता है तथा इंद्रिय विषयों के पदार्थों के संग्रह करने में बड़ी भारी तृष्णा रखता है और उन पदार्थों के संयोग में भारी हर्ष तथा उनके वियोग में भारी शोक करता है । वह रोगादि दुःख होने व मरण होने पर बहुत क्लेशित होता है । स्त्री पुत्रादि के मोह में पड़कर उनके लिये अन्याय व न्याय किसी भी बात का विचार न करके पैसा लाता है । उद्यम तो वह बहुत करता है पर मरते समय तक भी आशा को पूरी नहीं कर सकता किन्तु बढ़ी-चढ़ी आशा को लिए हुए आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान से प्राण छोड़ कर पशु आदि खोटी योनि में पहुंच जाता है । उसका वर्तमान जीवन भी दुःखी व भविष्य जीवन भी दुःखी होता है । अहंकार ममकार की डोरी में बंधा हुआ संसार के भंवर में वह नित्य भ्रमण किया करता है । अतः जीव के द्वारा बहिरात्मपने का त्याग कर अन्तरात्मपना ग्रहण करना योग्य है

क्योंकि अन्तरात्मा आत्मा का सच्चा स्वरूप जानता है और वह सच्चा श्रद्धावान् व सम्यग्ज्ञानी होता है एवं परमात्मपना तो सर्वथा उपादेय है ही।

जीवों के जो मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान बताये हैं उनमें पहिले तीन गुणस्थान तक के जीव तो बहिरात्मा हैं अर्थात् मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र गुणस्थानवर्त्ती जीव अन्तरात्मा नहीं, बहिरात्मा हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि नाम के चौथे गुणस्थान से लगा कर क्षीणमोह नाम के बारहवें गुणस्थान तक के जीव अन्तरात्मा हैं। उनमें चौथे गुणस्थान वाले जघन्य, पांचवें व छठे गुणस्थान वाले मध्यम तथा ध्यान में लीन सातवें से बारहवें गुणस्थान वाले जीव उत्तम अन्तरात्मा हैं। तेरहवें चौदहवें गुणस्थान वाले जीव शरीर सहित परमात्मा है तथा सिद्ध शरीररहित परमात्मा हैं। यदि हम निश्चयनय अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से विचार करें तो आत्मा में इन तीन अवस्थाओं का विशेष नहीं भासता है, आत्मा तो सदा ही अपने स्वभाव रूप एक ज्ञायकभाव रूप प्रतिभासता है परन्तु जब व्यवहार नय अर्थात् पर्यायार्थिक नय से विचार करते है तब कर्मबंधन सहित आत्मा की दृष्टि से आत्मा के ये तीन भेद हो जाते है।

इस श्लोक में आचार्य देव ने बताया है कि आत्मा का शुद्ध स्वभाव अर्थात् परमात्म अवस्था ही उपादेय है तथा उसकी प्राप्ति के लिये जो अन्तरात्म अवस्था है वह भी साधन रूप में उपादेय है अतएव भव्य जीव को मिथ्याबुद्धि छोड़कर तथा यथार्थ बात को जान कर अपनी निर्मल शक्ति का ध्यान करना चाहिये जिससे निज शक्ति प्रगट हो और यह आत्मा अपनी गुप्त विभूति का प्रगट भोक्ता हो जाये।

आगे की उत्थानिका—अब आचार्य आत्मा की अवस्थाओं का लक्षण इस प्रकार कहते है—

श्लोक—बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरन्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः॥५॥

अन्वयार्थ---(शरीरादौ) शरीर, वचन, मन आदि में (जातात्म-भ्रान्तिः) आत्मा के होने की जिसके भ्रांति या भ्रम है वह (बहिरात्मा) मिथ्यादृष्टि अज्ञानी बहिरात्मा है, (चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः) संकल्प विकल्प रूप चित्त तथा रागादि दोषों को आत्मा मानने की भ्रान्ति जिसके नहीं रही है वह (अन्तरः) अन्तरात्मा है तथा (अति निर्मलः) जो अति शुद्ध व कर्ममलरहित है वह (परमात्मा) परमात्मा है।

भावार्थ--यहां आचार्य देव ने बताया है कि मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत अर्थात् उपयोगी तत्त्व का जैसा स्वरूप है वैसा श्रद्धा नन करके जो जीव और का और श्रद्धान करता है उसे ही बहिरात्मा कहते हैं। शरीर तो जड़ पुद्गल की वर्गणाओं का समूह है अतः अचेतन है इस कारण वह कभी आत्मा नहीं हो सकता। वचन भी भाषा वर्गणाओं का समुदाय है और जड़ है। मन दो प्रकार का है--द्रव्य मन तथा भाव मन। द्रव्य मन हृदय स्थान में आठ पांखुड़ी का कमलाकार एक पौद्गलिक अंग है जो अति सूक्ष्म वर्गणाओं का रचा हुआ है तथा भाव मन कर्मों के क्षयोपशम से होता है, कर्मरहित जीव के मन नहीं होता। सामान्य से कर्म तीन प्रकार के हैं---द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म। ये तीनों ही पुद्गल सम्बंधी हैं। ज्ञानवरणादि आठ कर्म द्रव्यकर्म हैं जो कार्माण वर्गणाओं से रचे हुए हैं। उन्हीं के फल रूप जो औदारिक, वैक्रियिक, आहारक व तैजस शरीर हैं सो नोकर्म हैं तथा रागद्वेषादि जो आत्मा के विभाव भाव हैं वे भावकर्म हैं। इन भाव कर्मों को पौद्गलिक या जड़ इसीलिये कहते हैं कि ये पुद्गल कर्म के उदय के निमित्त से होते हैं, आत्मा के स्वाभाविक भाव नहीं हैं। जो कोई जीव इन तीन प्रकार के कर्मों से भिन्न आत्मा के स्वरूप को पहिचानता है उसको कभी भी मन, वचन, काय व विभाव भावों में आत्मपने की भ्रांति नहीं होती। ऐसा अन्तरात्मा ही भेदज्ञानी महात्मा कहलाता है। वह अपने स्वभाव का और स्वभाव में रहने वाले अतीन्द्रिय आनन्द का प्रेमी हो जाता है तथा इसी प्रेमवश वह आत्मा का अनुभव किया करता है।

स्वानुभव रूपी मंत्र के प्रभाव से उसकी कर्मों की गांठ खुलती जाती है और वह धीरे-धीरे परमात्म पद के निकट पहुंचता जाता है इसी से आचार्य श्री ने यह कहा है कि अन्तरात्मा होना ही परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय है ।

आगे की उत्थानिका—अब आचार्य परमात्मा के अन्य प्रसिद्ध नामों को कहते हैं—

**श्लोक—निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ।।६।।**

अन्वयार्थ—(निर्मलः) कर्मों के मल से रहित होने से वे निर्मल हैं; (केवलः) शरीरादिकों के सम्बन्ध से रहित हैं अर्थात् केवल मात्र आप ही हैं इससे केवल हैं; (शुद्धः) द्रव्य कर्म और भाव कर्मों के अभाव से परम शुद्धि को रखने वाले हैं इस कारण शुद्ध है; (विविक्तः) शरीर तथा कर्म आदि का स्पर्श उनके आत्म प्रदेशों से नहीं है अतः अस्पर्श और अबन्ध होने से विविक्त हैं; (प्रभुः) इन्द्रादि तथा गणधरादि मुनियों के स्वामी है अतः प्रभु है; (अव्ययः) जिस अनंत ज्ञान दर्शन सुख और वीर्यमय स्वभाव को प्राप्त किया है उससे कभी छूटने वाले नहीं हैं इससे अव्यय हैं; (परमेष्ठी) इन्द्रादिकों से वन्दने योग्य परम अर्थात् उत्कृष्ट पद में विराजमान हैं इस कारण परमेष्ठी हैं; (परात्मा) संसारी जीवों से विलक्षण आत्मा रूप होने से परात्मा है; (ईश्वरः) संसारी जीवों को असम्भव ऐसे आत्मिक परम ऐश्वर्य को रखने वाले हैं इससे ईश्वर हैं और (जिन) मोहनीयादि कर्मों पर विजय प्राप्त कर लेने के कारण जिन है–(इति) इस प्रकार ये (परमात्मा) परमात्मा के वाचक नाम हैं ।

भावार्थ—यहां पर आचार्य देव ने परमात्मा के वाचक कुछ सार्थक नाम लिखे हैं जिसका प्रयोजन यह है कि अन्तरात्मा को इन नामों से व इन ही के समान अन्य नामों से परमात्मा के स्वभाव का मनन करना चाहिए । भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा भी हमारा उपयोग उस एक

परमात्मा का ही स्मरण करता है। जिन-जिन शब्दों से परमात्मा के निर्मल गुणों के एक अंश का भी बोध हो वे सब शब्द परमात्मा के स्मरण में कारणभूत हैं इसीलिये इन्द्र एक हजार आठ नामों से व मुनिगण अनेक नामों से परमात्मा के गुणों का विचार करते हैं। अपनी आत्मा और परमात्मा में क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है इसीलिये परमात्मा के गुणों की प्रशंसा करना अपनी ही आत्मा के गुणों की प्रशंसा करना है। 'किसी का मनन करना व उसकी ही भावना करनी' इस वाक्य का मतलब भी उसी को बार बार मन में रटना वा विचारना है इसीलिये एक भाव या अर्थ के प्रकाशक यदि अनेक शब्द भी हों तो भी कुछ हानि नहीं है क्योंकि उन सब शब्दों से बार-बार परमात्मा के गुणों का ही स्मरण होता है।

हम परमात्मा को इन नामों से कह सकते हैं—सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनंतज्ञानी, परमज्ञायक, चैतन्यमूर्ति, परमानुभवी, स्वरूपासक्त, चित्-निधान, सकलावबोधी, तत्त्वज्ञानी, तत्त्ववेदी, आत्मज्ञानी, परमबुद्ध, तत्त्ववित्, ज्ञानमूर्त्ति, सम्यक्ज्ञानी, परमज्ञानी व महाज्ञानी आदि-आदि। यद्यपि इन सब शब्दों का एक सर्वज्ञ शब्द ही में भाव आ जाता है तथापि इस भाव के वाचक यदि करोड़ों शब्द रच कर भी हम परमात्मा को नाममाला जपें तो भी एक अच्छा मनन परमात्मा के गुणों का हो जाये।

आगे की उत्थानिका—अब कहते हैं कि इसका क्या कारण है जो बहिरात्मा देहादि को आत्मा मान लेता है—

श्लोक—बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः ।
स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ।।७।।

अन्वयार्थ—(आत्मज्ञानपराङ्मुखः) आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है—इस ज्ञान से जो शून्य है ऐसा (बहिरात्मा) मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव (इन्द्रियद्वारैः) अपनी इंद्रियों के द्वारा (स्फुरितः) विषयों के ग्रहण में

व्यापार करता हुआ (स्वात्मनो देहम्) अपनी आत्मा की देह को (आत्मत्वेन) आत्मा रूप से (अध्यवस्यति) माना करता है।

भावार्थ—बहिरात्मा की अंतरंग की बुद्धि ऐसी मंद हो जाती है कि अपने शरीर में इस शरीर से भिन्न भी और कोई वस्तु है ऐसा उसे समझ में नहीं आता। वास्तव में उसे ऐसा विचार करने का अवकाश ही नहीं मिलता। जिन एकेन्द्रियादि जीवों के मन नहीं है वे तो इस योग्य ही नहीं हैं कि उनके भीतर तर्क उत्पन्न हो जिससे वे उस गूढ़ व सूक्ष्म आत्म-पदार्थ को जान सकें। विषयों के द्वारा प्रेरे हुए मनरहित ऐसे प्राणी रात्रि दिन विषयों की पूर्ति में ही घूमा करते है तथा उनकी तलाश करते-करते ही उनके सारे जीवन का अंत हो जाता है। इन प्राणियों को मन रहित अवस्था के अनन्त शरीर धारने पड़ जाते है जिसमें अनंत काल बीत जाता है। मन सहित जो पशु या मनुष्य होते है उनमें विचार करने की शक्ति होती है परन्तु पशुओं को ऐसा अवसर मिलना अतिशय कठिन है जिसमें वे आत्मा को पहचान सकें। मनुष्यों में ज्ञान की सुगमता है परन्तु मनुष्यों का जीवन भी पशुओं के समान अपनी इन्द्रियों के विषयों की पूर्ति में ही बीत जाता है। उनको जन्म से इन्द्रियों की इच्छा की पूर्ति का ही अभ्यास रहता है जिससे अपने शरीर की दशा में ही वे अपनी आत्मा का अस्तित्व मान बैठते हैं। उनको परलोक का विश्वास नहीं होता और शरीर के जन्म को अपना जन्म व शरीर के मरण को अपना मरण मान लेने से वे मरण से निरन्तर डरते रहते हैं। विषय भोग में ही वे सुख मानते हैं और इस कारण उसी के लिए रात दिन झुरा करते हैं, धनादि लाते हैं, सामग्री इकट्ठी करते हैं और कुटुम्ब के स्नेह में अतिशय लवलीन हो जाते हैं। इन्द्रियों का व्यापार सो मेरा व्यापार है व इन्द्रियों का सुख सो मेरा सुख है—यही भावना उनके भीतर जागती है।

जो द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि होते हैं उनको यद्यपि बाहर से देखने पर इन्द्रियों के विषयों से विरक्ति सी दिखती है तथा वे अत्यन्त वैरागी

व तपस्वी दिखते हैं और अपने मन में भी वे यही समझते हैं कि हम मोक्ष के लिए ही उद्यम कर रहे हैं तो भी उनको शरीर से भिन्न आत्मा का स्वरूप नहीं भासता। मोक्ष में भी इन्द्रिय विषय की जाति का ही कोई अनन्त सुख है इस लालसा से वे तपस्या करते हैं और आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का व उसकी स्वाभाविक वीतरागता का उन्हें पता नहीं लगता इसी लिए मोक्ष के स्वरूप को भी वे नहीं जानते। इससे यही अर्थ निकलता है कि शुद्ध आत्मा से विलक्षण संसारी आत्मा में प्रगट वैभाविक परिणति को ही वे आत्मा मानते है अतः एकत्व विभक्त आत्मा का ज्ञान न रखने से वे मिथ्यादृष्टि साधु बाहर में शास्त्रोक्त आचरण पालते हुए भी बहिरात्मा ही रहते है।

जिस-जिस जीव के पुद्गल कर्म वा उसकी किसी प्रकार की भी पर्याय में आत्मा के होने का अध्यवसान है वह बहिरात्मा है। स्वामी अमृतचंद्र जी ने भी निम्न समयसार-कलशों में यही कहा है :—

श्लोक—मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात्।
य एवाऽध्यवसायोऽयम् ज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ॥८॥
अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः।
तत्किंचनापि नैवाऽस्ति नात्माऽऽत्मानं करोति यत् ॥६॥
विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा-
दात्मानमात्माविदधाति विश्वम्।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष-
नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥१०॥

भावार्थ—इस मिथ्यादृष्टि जीव के पर को अपना मानने रूप जो यह अज्ञान स्वरूप अध्यवसाय दीखता है सो ही विपरीत भाव होने से बंध का कारण है। इस जगत में ऐसी कोई भी वस्तु या पर परिणति नहीं है जिसको इस निष्फल अध्यवसाय से मोहित हुआ प्राणी अपनी व आपरूप

न मान ले। जिस मिथ्या मान्यता रूप अध्यवसाय के प्रभाव से जगत और पर परिणति से भिन्न रूप होता हुआ भी यह स्वयं को जगत रूप व पर परिणति रूप मान लेता है उसका मूल कारण एक मोह अर्थात् मिथ्यात्व ही है। यह मोह जिनके नहीं है वे ही यती हैं अर्थात् मोक्ष का यतन करने वाले सम्यग्दृष्टि है।

यहाँ आचार्य देव का प्रयोजन यह है कि उपरोक्त प्रकार की मिथ्या बुद्धि के छोड़ने से ही जीव अंतरात्मा हो सकता है।

आगे की उत्थनिका—देह को ही आत्मा मानता हुआ वह अज्ञानी जीव मनुष्यादि चारों गतियों शरीरों को अभेद रूप से आत्मा मानता है ऐसा दिखाते हैं—

श्लोक—नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम् ।
तिर्यंचं तिर्यगंगस्थं सुरांगस्थं सुरं तथा ॥८॥

अन्वयार्थ—(अविद्वान्) अज्ञानी बहिरात्मा (नर देहस्थं) मनुष्य देह में तिष्ठी हुई (आत्मानम्) आत्मा को (नरम्) मनुष्य, (तिर्यगंगस्थ) तिर्यंच शरीर में ठहरी हुई आत्मा को (तिर्यंच) पशु (तथा) और (सुरांगस्थं) देव के शरीर में ठहरी हुई आत्मा को (सुरं) देव (मान्यते) मानता है। तथा—

श्लोक—नारकं नारकांगस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा ।
अनन्तानन्तधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥९॥

अन्वयार्थ—(नारकांगस्थं) नारकी के देह में ठहरी हुई आत्मा को वह (नारकं) नारकी मानता है परन्तु (तत्त्वतः) निश्चय से (तथा) उस रूप अर्थात् मनुष्य, तिर्यंच, देव तथा नारकी रूप (स्वयं) अपने आप अर्थात् कर्म की उपाधि के बिना (न) नहीं होता क्योंकि निश्चय से यह आत्मा (अनन्तानन्त धी शक्तिः) अनन्तानन्त ज्ञान और वीर्य की धारी है, (स्वसंवेद्यः) अपने से ही अंतरंग में अनुभव करने योग्य है तथा (अचलस्थितिः) निश्चल रूप से रहने के स्वभाव वाली है।

भावार्थ—अज्ञानी आत्मा कर्मों के उदय से होने वाली अवस्थाओं को ही अपनी असली सूरत मान लेता है। उसकी बुद्धि में इस बात का भेद ज्ञान नहीं होता कि मेरा स्वभाव अन्य है और नारकादि अवस्थायें अन्य हैं जबकि ज्ञानी जीव आत्मा के स्वभाव को कर्म के द्वारा होने वाली सर्व अवस्थाओं से भिन्न जानता है। यद्यपि व्यवहार में ऐसा कह भी दिया जाता है कि यह मनुष्य है या यह पशु है परन्तु निश्चय से ज्ञानी को यह पक्का निर्णय होता है कि वह कर्म बंध जिसके उदय से नरक, मनुष्य, तिर्यंच या देवगति होती है, पुद्गल है, जड़ है और आत्मा केवल है व शुद्ध है। आत्मा मनुष्य, तिर्यंच आदि रूप नहीं है क्योंकि जब कर्म की उपाधि नहीं रहती तब ये गतियां नहीं होतीं। यदि ये गतियां स्वाभाविक होतीं तो सदा काल रहतीं।

अज्ञानी बहिरात्मा को ऐसा पता नहीं होता इसी से जो भी अवस्थाएं दीखती हैं उन्हीं रूप वह अपने को मान लेता है तथा अपने द्वारा प्राप्त गति में व उसके कार्यों में ऐसा तन्मय हो जाता है कि उसको आगे पीछे की कुछ खबर नहीं रहती। यदि वह मिथ्यादृष्टि आत्मा मनुष्य देहधारी हो तो सदा शरीर पालन, कुटुम्बवर्धन, विषयसेवन तथा मानरक्षण आदि कार्यों में ही गुंथा रहता है व उसको यदि कोई कहे भी कि तेरे भीतर आत्मा है तो उसका उसे कुछ बोध नहीं होता, भ्रम में पड़ कर वह समझता है कि रुधिर, आंतों व हड्डियों को कहते होंगे। करोड़ों, अरबों जंगली मनुष्य अपनी वर्तमान की मनुष्य की सूरत को ही आप रूप मानते हैं, उसके सिवाय उन्हें कुछ भी भान नहीं होता। पशुओं में तो प्रायः सब ही ऐसे मिलेंगे कि जिस शरीर में वे होते हैं उस शरीर के मोह जाल में ही रात दिन फंसे रहते हैं, उस शरीर सम्बन्धी इन्द्रियों के विषयों के पीछे ही उनके जीवन के समय का उपयोग होता है। इसी प्रकार देवों की भी यही दशा है। मिथ्यात्व के प्रभाव से उन देवों की भी पर्याय बुद्धि हो जाती है। वे रात दिन वन उपवन में ही सैर करते है, देवांगनाओं से क्रीडा करते हैं एवं अपने देव गति सम्बंधी खेल-तमाशों तथा मौज शौक में मग्न रहते हुए उन्हें स्वप्न में भी यह ध्यान नहीं आता कि आत्मा तो

एक भिन्न पदार्थ है। यदि ग्रैवेयकों के मिथ्यादृष्टि अहमिन्द्रों के कदाचित् यह ध्यान आए भी तो वे आत्मा के सच्चे रूप को नहीं पहचानते। और नारकी जीव तो मिथ्यात्व दशा में सिवाय मारकाट करने के व दुःख भोगने के और कुछ भी ऐसा नहीं सोचते जिससे शरीर से भिन्न आत्मा का शुद्ध स्वभाव उनकी बुद्धि में झलके—इस तरह चारों ही गति के जीव जिस-किसी भी अवस्था को या शरीर को पाते हैं उस-उसी में ऐसी गाढ अपनायत कर लेते हैं कि उससे भिन्न अपनी आत्मा का उन्हें स्वप्न में भी ख्याल नहीं आता।

पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि निश्चय तत्त्व दृष्टि से आत्मा का विचार करने पर यह आत्मा अनन्त गुणों का समुदाय है और इसका स्वभाव वचन अगोचर अनतानंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्य का धारी है। इस प्रकार का साक्षात् प्रत्यक्ष अनुभव यद्यपि कर्मों के नाश होने पर ही होता है अर्थात् अरहंत दशा में होता है तथापि श्रद्धा व ज्ञान द्वारा इस स्वभाव का स्वसंवेदन रूप अनुभव सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानी के भी होता है। इस आत्मा का स्वभाव द्रव्यदृष्टि से सदा बना रहता है, कर्मों की उपाधि रहते हुए यद्यपि वह स्वभाव शक्तिरूप रहता है, व्यक्त रूप नहीं होता परन्तु जब कर्मों का आवरण हट जाता है तब वह साक्षात् व्यक्त हो जाता है और तब इसकी शुद्ध अवस्था सदा निश्चल बनी रहती है, कभी किसी तरह मिट नहीं सकती।

यहां पर आचार्य श्री का अभिप्राय जीव की बहिरात्मबुद्धि छुड़ाने का है इसीलिए वे कहते हैं कि प्रत्येक गति वाले प्राणी को अपनी आत्मा का स्वभाव द्रव्यदृष्टि से सदा शुद्ध, बुद्ध, आनन्दमयी और सिद्ध सम ही देखना चाहिये और अपनी अवस्थाओं को कर्मजनित मानना चाहिये। भावार्थ यह है कि आत्मा का स्वरूप पुद्गल के साथ एक क्षेत्रावगाह होने पर भी जीव को जब वह पुद्गल से भिन्न भासने लगता है तब वह बहिरात्मा से अन्तरात्मा हो जाता है और यह अंतरात्मपना ही क्योंकि हितकारी व उपादेय है इसीलिये निश्चयनय के द्वारा अपनी आत्मा का अनुभव करके इस बहिरात्म-दशा को मिटाना चाहिये।

आगे की उत्थानिका—अपनी देह में ही आत्मा की मान्यता करने वाला बहिरात्मा दूसरे की देह में कैसी बुद्धि रखता है, इस बात को कहते हैं–

श्लोक—स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम् ।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥१०॥

अन्वयार्थ—(मूढः) अज्ञानी बहिरात्मा (स्वदेहसदृशं) अपनी देह के समान अर्थात् अपनी देह के व्यापार, वचन-व्यवहार व आकार आदि के समान (परदेहम्) दूसरे की देह को अर्थात् दूसरे की देह के व्यापार आदि को (दृष्ट्वा) देखकर (परात्माधिष्ठितं) अन्य की आत्मा को अपने में रखने वाली ऐसी उस देह को अथवा परात्मा अर्थात् आत्मा से परस्वरूप जो कर्म, उसके द्वारा अधिष्ठित अर्थात् प्राप्त हुई ऐसी देह को जो चेतन सहित है तथा (अचेतनं) स्वयं जड़ है (परत्वेन) पररूप अर्थात् पर की आत्मा रूप (अध्यवस्यति) मान लेता है ।

भावार्थ—अज्ञानी बहिरात्मा अपनी देह को ही जैसे आप रूप मान लेता है वैसे ही दूसरे की देह को भी उसी रूप मान लेता है। जैसी बुद्धि उसकी अपने बारे में होती है वैसी ही वह दूसरे में करता है । जैसे अपने शरीर के भीतर भिन्न आत्मा का उसे ज्ञान नहीं है वैसे ही दूसरे के शरीर के भीतर भी भिन्न आत्मा का ज्ञान नहीं है । अपने आप जैसे संसार के विषय भोगों में वह तन्मय है वैसा ही वह दूसरों को समझता है। स्वयं जैसे इन्द्रिय विषयों की तृप्ति से सुख मानता है वैसा दूसरा भी मानता है ऐसा समझता है। जैसे अपना मरण जान डरता है वैसे ही दूसरे का मरण हो जायेगा तब उसके विषय भोग छूट जायेंगे ऐसा मानकर भय करता है। जैसा वह आप पर्यायबुद्धि है वैसा ही दूसरे को समझता है । उसे भिन्न आत्मा का दर्शन न आप में होता है और न पर में ही होता है ।

यहां पर आचार्य श्री ने बहिरात्मा के अज्ञान की बात बताई है । इसी अज्ञान के ही कारण यह देखने में आता है कि मिथ्यादृष्टि पिता अपने

पुत्र को धर्म साधते हुए देखकर तो मन में दुःखी होता है जबकि लौकिक कार्यों को करता हुआ देखकर प्रसन्न होता है। ऐसा बहिरात्मा गृहस्थ जैसे अपने धन पुत्रादि की बढ़वारी देखकर संतोष मानता है वैसे ही दूसरे के भी परिग्रह व कुटुम्ब की वृद्धि देखकर संतोष मानता है। वह विषयों के आधीन होकर इतना स्वार्थी बन जाता है कि अपने स्वार्थ में यदि किसी के द्वारा कोई बाधा पहुंचती देखता है तो उसका बिगाड़ या नाश कर डालने में भी कोई संकोच नहीं करता। राज्य के लोभी पुत्र अपने पिता तक को भी मार डालते हैं। स्वार्थी बहिरात्मा राजा लोग अपनी प्रजा के हित की तरफ कम दृष्टि रखते हैं तथा अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए प्रजा को भी हानि पहुंचा देते हैं। बहिरात्मा की दृष्टि अत्यन्त स्वार्थयुक्त होती है। उसे न अपनी आत्मा की रुचि होती है और न पर की आत्मा को ही वह जानता है।

आगे की उत्थानिका—इस तरह की मान्यता से युक्त बहिरात्मा और क्या करता है, यह बताते हैं—

श्लोक—स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम् ।
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥११॥

अन्वयार्थ—(देहेषु) अपनी या दूसरों की देहों में (स्वपराध्यवसायेन) स्व-पर की आत्मा की मान्यता के कारण (अविदितात्मनाम्) आत्मा को न जानने वाले (पुंसां) पुरुषों के (पुत्रभार्यादिगोचरः) पुत्र स्त्री आदि सम्बन्धी (विभ्रमः) भ्रम (वर्तते) वर्तन करता है।

भावार्थ—जैसा कि ऊपर कहा गया है कि अज्ञानी मिथ्यावादी जीव आत्मा के स्वरूप को न जानकर मनुष्य, नारकी, देव व पशु के रूप को ही आत्मा जानते हैं। उस पर्याय में ही वे आत्मबुद्धि करते हैं और इससे पुत्र, स्त्री, धन, धान्य आदि को, जो अपनी आत्मा से बिलकुल भिन्न हैं तथा अपनी आत्मा का उपकार करने वाले नहीं हैं, अपना उपकार करने वाला मान लेते है। उनकी प्राप्ति में व उनके रक्षित रहने में सन्तोष

तथा उनके वियोग होने पर वे महासन्ताप करते हैं यहां तक कि अपना अपघात तक भी कर डालते हैं।

निश्चय से स्त्री, पुत्र, मित्र, माता व पिता आदि की आत्मा अपने से भिन्न है। उनका जीवित रहना उनके आयु कर्म के आधीन है तथा उनको सुख व दुःख होना उनके साता व असाता वेदनीय कर्म के आधीन है। उनकी आत्मा, शरीर व पुण्य पाप कर्म आदि सब यद्यपि अपने से भिन्न हैं पर फिर भी अज्ञानी बहिरात्मा उन स्त्री-पुत्रादिकों को अपना ही मान लेता है और यह चाहता है कि वे सब उसके अनुकूल व्यवहार करें। कदाचित् उनका आचरण जब अपने मन के अनुसार होता है तब तो वह हर्ष से फूल जाता है और जब अपनी इच्छा के अनुसार उनका वर्तन नहीं होता व उनकी दशा बिगड़ जाती है तब अपने ही स्वार्थ के अभिप्राय से वह बहुत अधिक शोक तथा संताप किया करता है। पुत्र के मोह में कभी इतना अंधा बन जाता है कि उसके मरण में आप पागल हो जाता है व कोई-कोई ऐसी दशा में अपना अपघात तक भी कर लेते हैं। उन स्त्री-पुत्रादिकों को अपना मानकर वह अज्ञानी जीव उनके लिए विषय की सामग्री को नाना प्रकार अन्याय करके भी इकट्ठा करता है। जब उनसे वह ममता करता है तब तो इस रूप वर्तन करता है और यदि कदाचित् किसी स्त्री या पुत्र या भ्राता से अपने विषय भोग में अंतराय होता देखता है तो उनका शत्रु भी बन जाता है और उनके नाश में कमर कस लेता है।

विभ्रम मिथ्या मान्यता को कहते हैं। जो अपने सच्चे साथी कभी हो नहीं सकते उनको अपना सच्चा साथी मान लेना ही विभ्रम है। यदि विचार कर देखा जाये तो हर एक प्राणी अपने-अपने स्वार्थ में लगा हुआ है। स्त्री अपने मतलब से पति से प्रेम करती है, पति अपने काम में सहायक देख कर स्त्री से प्रेम करता है, 'हमारे कार्य में मदद देगा व वृद्धावस्था में काम आयेगा', ऐसा समझ कर पिता पुत्र से स्नेह करता है तथा 'पिता से धनादि का लाभ होगा', यह जान कर पुत्र पिता की मान्यता करता है।

संसार में ऐसा देखा जाता है कि जब किसी से अपना कोई स्वार्थ सिद्ध होता नहीं दिखाई देता तब उससे बिलकुल स्नेह उड़ जाता है। अपाहिज बुढ़िया सास को व अपाहिज बूढ़े ससुर को पुत्रवधू बिलकुल नहीं चाहती है। यहां तक कि अपने प्रिय पुत्र भी धन रहित, वृद्ध अपाहिज पिता को नहीं चाहते हैं। मित्र भी विषय में सहायक होने के कारण ही मित्र से प्रेम करते है।

देखा जाये तो संसार के सब अज्ञानी प्राणी जहाँ अपने-अपने मतलब में ही लगे रहते है वहाँ ज्ञानी पुरुष दूसरों का उपकार करते हुए वा उनसे काम लेते हुए उनके सर्वस्व को अपने से भिन्न द्रव्य मानते हैं और इसी कारण उनके संगम में वे विशेष फूलते नहीं तथा उनके वियोग में विशेष दुःखी नहीं होते। वे यही समझते है कि कुटुम्बियों से उनका सम्बन्ध, एक वृक्ष पर रात्रि को बसेरा करने वाले पक्षियों के समान है जैसा कि स्वामी पूज्यपाद जी ने स्वयं अपने 'इष्टोपदेश' ग्रन्थ में कहा है—

श्लोक—दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे।
स्वस्वकार्यवशाद्यांति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥९॥

भावार्थ—अनेक दिशाओं के विभिन्न स्थानों से कई पक्षी आकर रात्रि को एक वृक्ष पर मिलकर बसेरा कर लेते हैं और सवेरा होते-होते वे पक्षी अपने-अपने कार्यवश अनेक दिशाओं के भिन्न-भिन्न स्थानों को चले जाते हैं।

इसी तरह एक कुटुम्ब में भी भिन्न-भिन्न गतियों से भिन्न-भिन्न जीव आकर एक साथ रहते हैं ओर जब भी जिसकी आयु पूरी होती है तब ही वह उस कुटुम्ब को छोड़कर दूसरी गति में अपने कर्मों के अनुसार चला जाता है। जैसे वे पक्षी थोड़ी देर के लिए यद्यपि एक साथ ठहरते हुए भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं वैसे ही एक कुटुम्ब में भी सब जीव अपनी भिन्न-भिन्न सत्ता, कर्म, आचरण और स्वभाव वाले होते हैं।

ज्ञानी जीव बाहर में उनके साथ यथायोग्य व्यवहार करता हुआ भी अंतःकरण में उनको अपने से भिन्न ही समझता है। यहां यह शंका भी नहीं नहीं करनी चाहिए कि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव अपने स्त्री-पुत्रादिकों से तीव्र राग करता हुआ उनका जैसा उपकार करता है उससे वह ज्ञानी जीव अपने स्त्री-पुत्रादिकों का कम उपकार करता होगा क्योंकि भीतर से उनसे तीव्र स्नेह न करके वह उनको निश्चय से अपने से भिन्न ही जानता है। यद्यपि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा वस्तु के सच्चे स्वरूप को जानता हुआ भीतर से उनसे तीव्र स्नेह नहीं करता तथा जल में रहते हुए जैसे कमल जल से अलिप्त रहता है, वैसे ही कुटुम्ब के स्नेह में अलिप्त रहता है तो भी अपने स्त्री-पुत्रादिकों का उपकार वह किसी तरह भी कम नहीं करता, प्रत्युत ज्यादा ही करता है क्योंकि बहिरात्मा का अभिप्राय तो जहाँ उन स्त्री-पुत्रादिकों के मात्र शरीर की रक्षा का ही रहता है वहाँ अंतरात्मा का प्रयोजन उनकी आत्मा तथा मन, वचन व काय सब की ही रक्षा करने का होता है। वास्तव में बहिरात्मा द्वारा उनकी सच्ची उन्नति न होकर और अवनति ही होती है जबकि अंतरात्मा द्वारा उनकी सच्ची उन्नति होती है। अंतरात्मा तो मुख्यता से उनको धर्ममार्ग ही सुझाता है जिससे उनकी आत्मा भी अंतरात्मा हो जाये।

बहिरात्मा अपने व्यवहार के द्वारा अपने स्त्री-पुत्रादिकों के श्रद्धान को और मलिन कर देता है जबकि अंतरात्मा उनके श्रद्धान को निर्मल रखता है। प्रायः बहुत से मिथ्या श्रद्धानी जीव अपने झूठे यश के लिए छोटी आयु में अपने बालकों का विवाह कर देते हैं, नाच-तमाशे आदि में खूब द्रव्य लुटा देते हैं, वृद्धावस्था होने पर भी अपनी विषय वासना न रोककर स्त्री सम्बन्ध कर लेते हैं तथा अपनी प्यारी कन्या के कई लेने वाले देखकर उसे दस हजार, बीस हजार या और अधिक रुपयों में किसी अयोग्य वर को दे देते हैं। कन्या को देते हुए उन्हें उसके ऊपर यह दया भी नहीं आती कि इसे वृद्ध पति कैसे ठीक पड़ेगा।

अंतरात्मा यद्यपि जगत के प्राणिमात्र को ही अपना बन्धु मानता है, तथापि जिनका अपने शरीर के साथ बहुत निकट का सम्बन्ध है, उनका

तो वह विशेष उपकार करना चाहता है। इसी कारण स्त्री-पुत्रादिकों में अपनेपने का भ्रम न करता हुआ भी वह उनके साथ बहुत ही उचित और योग्य व्यवहार करता है। यद्यपि वह अध्यात्म-रस का प्रेमी है तो भी अपने शुभ परिणामों से अपना कोई स्वार्थ या बदला न चाहता हुआ वह जगत के उपकार को भली प्रकार करता है। बहिरात्मा अज्ञानी का लोकोपकार जहाँ अवश्य किसी न किसी कषाय की पुष्टि के लिए होता है, चाहे वह मान हो या लोभ हो वहाँ अंतरात्मा किसी निजी कषाय को पुष्ट नहीं करता किंतु जैसे वृक्ष बिना किसी निजी स्वार्थ के दूसरों को फल देते है, नदी किसानों को पानी देती है एवं मेघ जल की वर्षा करते हैं, उसी तरह बिना अपने किसी स्वार्थ के अपने पुण्योदय से प्राप्त शक्तिओं को दूसरों के उपकार में लगाना ही वह अपना कर्त्तव्य समझता है।

बहिरात्मा जीव जहाँ अपने स्त्री-पुत्रादिकों में होने वाली मिथ्या मान्यता के वश उनसे तीव्र मोह के कारण बड़ा भारी कर्म बांधता है तथा उनके विषय में अपने अज्ञान से दुःख भोगता है, वहाँ अंतरात्मा अपने स्त्री-पुत्रादिकों में रंचमात्र भी भ्रम अर्थात् झूठे अपनेपने की बुद्धि को न करता हुआ बहुत ही मंद मोही होता है तथा उनके कारण आप कभी दुःख नहीं उठाता। वास्तव में मिथ्या ज्ञान दुःखदायी है जबकि यथार्थ ज्ञान सुखदायी है। बहिरात्मा अपनी भूल से ही जगत में दुःख पाता है जबकि अंतरात्मा अपनी सच्ची बुद्धि के कारण किसी भी प्रकार का कोई भी दुःख नहीं उठाता।

बहिरात्मा के इस लोक सम्बन्धी तथा परलोक सम्बन्धी दोनों ही जीवन क्योंकि दुःखरूप होते हैं इसीलिए आचार्य महाराज इस बहिरात्मपने को त्यागने की शिक्षा देते हुए कहते हैं कि झूठा भ्रम छोड़ो और स्त्री-पुत्रादिकों से झूठा स्नेह मत करो।

आगे की उत्थानिका—इस प्रकार स्त्री-पुत्रादिकों में अपनेपने का भ्रम हो जाने का क्या फल होता है सो कहते हैं—

श्लोक—अविद्या संज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः ।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ।।१३।।

अन्वयार्थ—(तस्मात्) इस मिथ्या मान्यता या भ्रम बुद्धि से बहिरात्मा के भीतर (अविद्या संज्ञितः) अविद्या है नाम जिसका ऐसा (संस्कारः) संस्कार अर्थात् असर (दृढः) मजबूत या गाढ़ा (जायते) हो जाता है (येन) जिसके द्वारा (लोकः) यह अविवेकी मनुष्य (अंगमेव) शरीर को ही (पुनरपि) फिर फिर भी यहां तक कि अन्य-अन्य जन्म में भी (स्वं) आत्मा (अभिमन्यते) माना करता है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य दिखलाते है कि इस अज्ञानी जीव में शरीरादि पर वस्तुओं को आत्मा मानने की अविद्या कोई नवीन नहीं है किन्तु बहुत प्राचीन है अर्थात् अनादि काल से है। जब-जब यह कोई भी शरीर पाता है तब-तब अपने को शरीर रूप ही मान लेता है। पशु अवस्था में मै कुत्ता हूं, मैं बन्दर हूं, मैं शेर हूं, मैं घोड़ा हूं, मैं भैंस हूं, मैं मत्स्य हूं इत्यादि रूप से तथा मनुष्य अवस्था में मैं ब्राह्मण हूं, मैं क्षत्रिय हूं, मैं वैश्य हूं, मैं शूद्र हूं, मैं हिन्दू हूं, मैं अंग्रेज हूं, मै यहूदी हूं, मैं पारसी हूं, मैं मुसलमान हूं, मैं बलवान हूं, मै धनवान हूं, मैं उच्चकुली हूं, मैं राजा हूं, मैं मूर्ख हूं, मैं बुद्धिमान् हूं, मै पंडित हूं, मै दाता हूं, मै भिक्षुक हूं, मै श्रावक हूं, मै साधु हूं, मैं निर्ग्रन्थ हूं और मै तपस्वी हूं इत्यादि रूप से यह अपने को माना करता है। इसी तरह नरक में यह अपने को नारकी व देवगति में देव माना करता है। जिस जीव के पास अब तक अविद्या या मिथ्याज्ञान पाया जाता है, उसके बारे में यह समझना चाहिए कि उसने आज तक कभी भी कर्मादि से भिन्न एक शुद्ध बुद्ध आत्मा की प्रतीति नहीं पाई है। उसकी बुद्धि पर मिथ्यात्व का संस्कार जन्म-जन्म में रहा करता है जिससे सदा ही इस लोक में हो चाहे परलोक में, वह अपने शरीर को ही अपना सब कुछ, अपना सर्वस्व जानता है, किन्तु उससे भिन्न चैतन्य वस्तु का कुछ भी पता नहीं लगाता।

जैसे किसी पत्थर पर पुनः-पुनः रस्सी की रगड़ लगने से उस पर उस रस्सी के ऐसे गाढ़े चिन्ह पड़ जाते है कि वे मिटते नहीं वा कठिनता से मिटते है वा जैसे किसी स्थान को कभी भी साफ न करने से उस पर मिट्टी और धूल जमते-जमते बहुत अधिक हो जाती है वा जैसे एक बार, दो बार या चार बार नशा कर लेने से नशे की ऐसी आदत पड़ जाती है जिसका छूटना कठिन होता है; वैसे ही मैं पुद्गल रूप ही हूं और उससे भिन्न और कुछ नहीं हूं, इस तरह की बुद्धि बराबर रहने से उसका असर इतना अधिक पक्का हो जाता है जिसका मिटना कठिन हो जाता है। यदि विचार कर देखा जाये तो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के पर में अहंबुद्धि अनादि काल से ही चली आ रही है, कोई समय ऐसा नहीं हुआ कि जब यह बुद्धि न रही हो। जिस-जिस शरीर में जब-जब यह संसारी मिथ्या-दृष्टि जीव गया, उस-उस शरीर में तब-तब इसने आत्मबुद्धि की अर्थात् उसी पर्याय रूप अपने को माना। विग्रह गति में भी यह उन्हीं भावों को रखा करता है जो मरते समय होते हैं इस कारण विग्रहगति में भी यह पर्याय बुद्धि ही रहा।

इस प्रकार इस जीव के अनादि काल का यह अविद्या का संस्कार बहुत दृढ़ हो रहा है जिससे यह जहाँ कहीं जिस भी शरीर में जाता है वहाँ वहीं उसी मे आत्मबुद्धि कर लेता है। आचार्य कहते है कि ऐसे इस बहिरात्मपने को धिक्कार हो जिससे यह जीव अनादि से अन्धा हो रहा है। वे प्रेरणा करते हैं कि जीव को अब यही उचित है कि वह अपनी इस अनादि की भूल को मेटे और अपना स्वरूप जो अनन्त ज्ञानानंदमय है, उसे पहचानकर अंतरात्मपना धारण करे।

आगे की उत्थानिका—बहिरात्मा उपर्युक्त प्रकार मानता हुआ क्या करता है तथा अंतरात्मा कैसे इस भ्रम से बचता है सो दिखाते हैं–

श्लोक—देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनम् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(देहे) इस शरीर में व अन्य पर वस्तु और भावों में

(स्वबुद्धिः) आत्मा की बुद्धि रखने वाला बहिरात्मा (आत्मानं) अपनी आत्मा को (एतेन) इस देह से या पुद्गल कर्मादि से (युनक्ति) बंधनरूप कर देता है अर्थात् कर्म बंधन में पड़कर दीर्घ संसारी हो जाता है। एवं (स्वात्मनि एव) अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप में ही (आत्मधीः) आत्मा की बुद्धि रखने वाला अंतरात्मा (देहिनम्) अपनी आत्मा को (निश्चयात्) निश्चय ही (वियोजयति) देह से या पुद्गल कर्म बंध से छुड़ा लेता है।

भावार्थ—यहां पर श्री पूज्यपाद महाराज ने बहिरात्मा और अंतरात्मा की मान्यता के फल को बताया है। मिथ्यात्वी अज्ञानी जीव अपने आत्म द्रव्य का निश्चय से क्या स्वरूप है, इस बात को नहीं जानता अतः वह वीतराग शुद्ध भाव को नहीं पा सकता। उसके भावों से मोह की कालिमा नहीं मिटती और चित्त से विषय भोग के सुख की इच्छा नहीं हटती। वह कषायों को दूर नहीं कर सकता। यह सम्भव है कि उसके शुक्ल लेश्या सम्बन्धी बहुत ही मन्द कषाय रूप भाव हों, जिस कारण वह किसी का कभी भी बुरा न विचारता हो तो भी जो जीव आत्मज्ञान शून्य है उसके अनंतानुबंधी कषाय का उदय रहता है और इसीसे उसके स्वरूपाचरण चारित्र नहीं होता। उसकी वासना से क्योंकि राग द्वेष मोह दूर नहीं होते इसी कारण वह मिथ्यात्व आदि कर्म की प्रकृतियों का बंध किया करता है। बंधावस्था में अशुद्ध भाव सहित ही वह मरण करता है, जिससे फिर शरीर को धारण कर फिर पहले के समान ही चेष्टा करता है और इस तरह दीर्घ संसारी हो जाता है। जब तक मिथ्यात्वकर्म नहीं कटता तब तक कर्मबंध दूर होने व संसार के छेद होने का प्रारंभ ही नहीं होता क्योंकि संसार की जड़ मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व के दूर होते ही आगामी कर्मबंध तो रुकने लगता है व पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है।

आचार्य कहते हैं कि जो निश्चयनय से अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप को पहचानता है, उसकी अज्ञान की वासना मिट जाती है और वह अतीन्द्रिय सुख का प्रेमी हो जाता है। उसका लक्ष्य अपनी आत्मा की विभूति की तरफ ही सर्वदा रहता है और लोक में रहते हुए भी वह वीतरागी

होता है। ऐसा अंतरात्मा मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय के असर से बाहर होता हुआ स्वरूपाचरण चारित्र का उपभोग करता है। उसके मोह (मिथ्यात्व) तो किसी सांसारिक वस्तु से होता नहीं, केवल चारित्र मोह सम्बन्धी अल्प राग द्वेष रहता है, जिससे उसके संसार के कारणभूत आगामी कर्म तो बंधते नहीं तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा ही होती है। फल यह होता है कि उसका दीर्घ संसार छूट जाता है। वह ज्ञानी अंतरंग में वैरागी रहता हुआ तथा लौकिक कर्मों को प्रयोजनवश करता हुआ भी उनके फल की इच्छा नहीं करता है, इसीसे वह अपनी आत्मा को पूर्वबद्ध कर्मों से छुड़ाता रहता है। जो कोई जीव पिछले कर्मों के फल को उदासीन भाव से भोग लेता है, उसके नवीन कर्मों का बंध नहीं होता और यदि कदाचित् अल्प रागद्वेष के कारण कुछ थोड़ा सा होता भी है तो वह नहीं के समान है। वह अल्प स्थिति व अनुभाग लिए होता है जो शीघ्र ही छूट जायगा इसी से आचार्य श्री ने कहा है कि जो अंतरात्मा है वह अपने आप को कर्मों से छुड़ाता है। यह नियम भी है कि जो जिस वस्तु से राग करेगा वह उससे बंधेगा तथा वह वस्तु उसके संग को न छोड़ेगी तथा जो जिससे वैरागी होगा उसका संग अवश्य छूटने का है ही, इसी से सम्यग्-दृष्टि जीव बंध से तथा देह से छूट जाता है।

आगे की उत्थानिका—देह के साथ अपनापना जोड़ने वाले बहि-रात्मा के निन्दनीय व्यापार को दिखाते हुए आचार्य खेद प्रगट करते हैं—

श्लोक—देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः ।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(देहेषु) अपनी या दूसरों की देहों में (आत्मधिया) आत्मा की बुद्धि रखने से ही (पुत्रभार्यादिकल्पनाः) पुत्र, स्त्री आदि की कल्पनाएं (जाताः) पैदा होती हैं। (हा) खेद है कि (जगत्) यह जगत् (ताभिः) उन्हीं स्त्री पुत्रादि से (आत्मनः) अपनी (सम्पत्ति) सम्पदा (मन्यते) मानता है, इसीलिए (हतं) नष्ट-भ्रष्ट हुआ है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि बहिरात्मा को आत्मा के भिन्न स्वरूप का श्रद्धान नहीं है इसीलिए उसे न तो आत्मा के अजर, अमर तथा अविनाशीपने का ही श्रद्धान है और न इस बात का श्रद्धान है कि परलोक में आत्मा जाती है और वहां अपने-अपने कर्म का फल पाती है। संसार में ही लीन जो बहुत मोटे अज्ञानी जीव हैं उनका यही हाल है। वे इस मनुष्य जीवन को ही अपना जीवन समझते हैं। उन्हें शरीर में ही अपना सर्वस्व दीखता है। शरीर के जन्म को अपना जन्म व शरीर के मरण को वे अपना मरण जानते हैं। पांचों इन्द्रियों के विषय-भोगों में ही वे सुख समझते हैं। उन विषय-भोगों में जो-जो सहायक होता है उस-उससे अज्ञानी जीव की गाढ़ प्रीति होती है, इसी से वह अपनी स्त्री से बहुत राग करता है और पुत्र, पौत्रों का अत्यन्त मोही होता है। धन सम्पत्ति भी वह इसीलिए बहुत पैदा करता है कि अपने कुटुम्ब के साथ खूब भोग करूं, पुत्र-पुत्री के विवाहादि में खूब धन खर्च करूं और खूब नाम कमाऊं।

इस प्रकार की मिथ्या बुद्धि के कारण ही वह अज्ञानी स्त्री, पुत्र आदि के होते हुए अपने को सम्पत्तिवान् समझता है। रात्रि-दिन उन्हीं की चिंता में फंसा रहता है। उनके सम्बन्ध से इसको जीवन भर के लिए इतना काम हो जाता है कि यदि एक हजार वर्ष की इसकी आयु हो तब भी इसका काम समाप्त न हो। उन्हीं के सम्बन्ध से वह कभी सुख मानता है व कभी दुःख मानने लग जाता है। जब स्त्री पुत्रादि स्वस्थ होते हैं तब सुख और जब वे रोगी शोकी होते हैं तब दुःख मान लेता है। स्त्री के वस्त्र, आभूषण आदि बनाने का, पुत्रजन्म के प्रबन्ध का, पुत्र के विवाह का, पुत्र के पुत्र होने का, उस पौत्र के विवाह का, पुनः पौत्र के पुत्र होने का और फिर उसके विवाह का इत्यादि कामों का प्रवाह सदा जारी रहे, ऐसी उसकी लालसा होती है। कुटुम्ब की विषय कामनाओं की पूर्ति करता-करता और उनके मोह में उनको हर तरह राजी करने की तदबीर करता करता आप बृद्ध होकर वह मरण के निकट पहुंच जाता है तो भी अपनी लालसा को किसी तरह कम नहीं कर पाता और अंत में पछताता

हुआ मरता है कि हाय ! मैं अमुक काम करे बिना चल दिया, यदि पौत्र के पौत्र का मुंह और देख लेता तो मेरा जन्म सफल हो जाता।

आचार्य महाराज को मन में खेद इसीलिए आता है कि ये अज्ञानी जीव वृथा ही अपने इतने दुर्लभ मनुष्य जन्म को नष्ट कर देते हैं। मानव जन्म पाने का कुछ भी फल ये नहीं पाते और राग, द्वेष, मोह से महान् तीव्र कर्म बांधकर दुर्गति में चले जाते हैं। सच्चे धर्म को, सच्चे आत्मस्वरूप को व सच्चे सुख को न पहचान कर ये बेचारे अज्ञान के कारण अपने भीतर रही हुई सुख शान्ति को नहीं पाते तथा संसार समुद्र से तिरने का यत्न करने का अवसर देने वाले मानव जन्म को पाकर भी मोक्षमार्ग का कुछ भी साधन नहीं करते हुए अपने को संसार चक्र में फिरने वाला ही बनाये रखते हैं।

आचार्य श्री को इस बात को सोचकर और भी खेद होता है कि यदि यह जीव सम्यग्दृष्टि होता और गृहस्थी में स्त्री पुत्रादि का उपकार करता व विषय भोग भोगता तो इसे गृहस्थी को बिना त्यागे हुए भी सुख-शांति रहती, कर्म बंध इसके बहुत तुच्छ होता और भविष्य में यह सद्गति का पात्र हो जाता। मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा अधिक निराकुलता व साता रहती हो ऐसा नहीं है किन्तु एक सी ही सामग्री व एक सा ही कुटुम्ब रहते हुए भी मिथ्यादृष्टि को बहुत आकुलता व बहुत कम साता रहती है और सम्यग्दृष्टि को कम आकुलता व बहुत अधिक साता रहती है। अतः मात्र मिथ्याश्रद्धान तथा अज्ञान के वश ही जीव अपना बुरा करता है और कर्मों की गठरी बांधकर संसार का पात्र हो जाता है। यदि इसकी समझ ठीक हो जाये अर्थात् यह आत्मा को पहचान ले और आत्म-ज्ञान पूर्वक स्त्री पुत्रादि लक्ष्मी से काम ले, उनकी रक्षा तो करे पर उनके मोह में उन्मत्त न हो तो इसका जीवन इस जन्म और अगले जन्म—दोनों जन्मों में सुखदायी हो जाये।

देह में आत्म-बुद्धि रखने व आत्मा में आत्म-बुद्धि न करने से ही इस जगत के सारे बहिरात्माओं की ऐसी दुर्व्यवस्था हो रही है। कुछ ज्ञानी अंतरात्माओं के सिवाय सारा ही जगत अपने स्वरूप के ज्ञान से बाहर

रहता हुआ भ्रष्ट हो रहा है। इसी से आचार्य देव का यह अभिप्राय है कि अपनी अपनायत अपनी आत्मा के यथार्थ ज्ञाता दृष्टा स्वरूप में करो और अपनी आत्मा से बिलकुल भिन्न, रात्रि को वृक्ष पर बसेरा कर लेने वाले पक्षियों के समान जो स्त्री पत्रादि हैं उनके मोह में अपने को मत भूलो। जब तक उनका सम्बन्ध है तब तक उनका उपकार तो करो पर अंतरंग में सदा ही यह समझते रहो कि इनकी आत्मा व इनके कर्म भिन्न हैं तथा मेरी आत्मा व मेरे कर्म भिन्न हैं, किसी आत्मा की सत्ता दूसरी किसी आत्मा से मिलती नहीं व किसी आत्मा का परिणमन किसी आत्मा के आधीन नहीं। आचार्य प्रेरणा करते हैं कि इस प्रकार जल में कमल की तरह अलिप्त रह कर अपना जीवन सुख शांति से बिताओ।

आगे की उत्थानिका—आगे बहिरात्मा के स्वरूप को संकोचते हुए यह बताते हैं कि इस बहिरात्मपने को छोड़कर अंतरात्मा को अपनी आत्मा में प्रवेश करना चाहिए—

श्लोक—मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(संसारदुःखस्य) संसार के दुःखों का (मूलं) मूल कारण (देह एव) शरीर में अर्थात् पुद्गल व पुद्गल सम्बन्धी पर्यायों में ही (आत्मधीः) आत्मपने की बुद्धि है (ततः) इस कारण से (एनां) इस मिथ्या बुद्धि को (त्यक्त्वा) छोड़कर ज्ञानी पुरुष (बहिरव्यापृतेन्द्रियः) आत्मा से बाहर बाहरी इन्द्रियों के विषय रूप पदार्थों में इन्द्रियों के व्यापार को न प्रवर्ताता हुआ (अन्तः) अपने अन्दर (प्रविशेत्) जावे अर्थात् अपनी आत्मा में ही आत्मबुद्धि करे और अंतरात्मा होकर अपनी आत्मा का अनुभव करे।

भावार्थ—यहां आचार्य बताते हैं कि इस संसार में अनादिकाल से यह जीव पुद्गल जड़ को अपना रूप मानता हुआ, सिद्ध के समान अपना शुद्ध स्वभाव न जानता हुआ तथा मिथ्यात्वकर्म के उदय से मिथ्या श्रद्ध-

वसाय में पड़कर पर में अहंबुद्धि तथा ममकार बुद्धि करता हुआ रागद्वेष भावों में परिणमन करके तीव्र कर्म बंध करता है। उस कर्म के उदय से यह फिर नरक, पशु, मनुष्य आदि गतियों में पुनः-पुनः भ्रमण कर जन्म, जरा, मरण, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, शारीरिकव्याधि, मानसिकआधि तथा क्षेत्र सम्बन्धी कष्ट आदि नाना प्रकार के असह्य दुःखों को भोगता है तथा फिर पुनः रागद्वेष करता हुआ नवीन कर्मबन्ध कर लेता है। इस तरह जड़ को अपनाने से यह पुनः-पुनः कर्मों को बांध कर उनका फल भोगा करता है और संसार में रुला करता है। आचार्य ज्ञानी पुरुष को शिक्षा देते हैं कि 'तू पर में आपा मानने की इस झूठी बुद्धि को छोड़ अर्थात् कर्मों के उदय से तेरी जो भी अनेक अवस्थायें हों उनको केवल नैमित्तिक जान, उन्हें अपने आत्मद्रव्य का स्वभाव न समझ। सिद्ध महाराज की जैसी पवित्र आत्मा है वैसा ही तू अपने को पवित्र जान, तेरी और सिद्ध भगवान् की जाति एक है। एवं इन्द्रियों के विषयों में तू सुख मानना छोड़। इन्द्रियों के विषय भोग का सुख तृप्तिकारी नहीं है, आकुलता रूप है, इससे उस सुख को उपादेय न समझकर केवल अतीन्द्रिय सुख को ही उपादेय जान। और इस प्रकार अपनी अपनायत अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप में करके तू अंतरात्मा हो जा।' 'अपने स्वरूप का जीव को साक्षात् अनुभव हो जावे' यह अभिप्राय यदि आचार्य महाराज का यहाँ लिया जाये तो उससे यह भावार्थ निकलता है कि ज्ञानी जीव को अपने उपयोग को सर्व इन्द्रियों के व्यापारों से हटाकर भीतर प्रवेश करना चाहिए अर्थात् अपनी आत्मा में तन्मय होकर स्वानुभव का आनन्द लेना चाहिये।

एक गृहस्थी न्यायपूर्वक इन्द्रियों के विषयों को सेवता हुआ भी अंतरात्मा रह सकता है। जैसे कोई उच्च-कुली महाजन अपनी मोरी को मैल से भरी देखकर स्वयं झाड़ू और पानी लेकर उस मोरी को धोता है, यह काम वह करता है पर इसमें उसकी रुचि नहीं है, मैल धोने के लिये उसे ऐसा करना पड़ता है अथवा किसी के शरीर में भारी ज्वर है उसे दूर करने के लिए उसे कड़वी औषधि खानी पड़ती है, रुचि से वह उसे नहीं खाता है वैसे ही सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानी अंतरात्मा गृहस्थ कषायों के जोर

को दबाने के लिये असमर्थ होकर योग्य विषयों का सेवन करता है पर अंतरंग से उन्हें उपादेय या ग्रहण करने योग्य नहीं मानता है, उसकी गाढ़ रुचि तो अपने स्वरूप के अनुभव की ही होती है। जगत में बहुत से काम ऐसे होते हैं जिनमें अपनी गाढ़ रुचि न होने पर भी जिन्हें करना पड़ता है जैसे किसी राजा का कोई नौकर है, वह राजा अपने शौक से किसी नाटक को देख रहा है और नौकर की इच्छा नहीं हैं कि मैं नाटक देखने जाऊं पर फिर भी राजा के भय से उसे प्रसन्न करने के लिए उसे राजा के साथ जाना पड़ता है और उसकी क्रिया में पूरा सहयोग देना पड़ता है। इसी तरह तत्वज्ञानी भी पूर्वबद्ध कर्मों की तीव्रता से इन्द्रिय विषयों की बाधा को सहने में असमर्थ होकर विषय-सेवन तो करता है पर फिर भी अपने गाढ़ आत्मश्रद्धान के बल से वह अंतरात्मा ही रहता है। आचार्य कहते हैं कि उस ज्ञानी सम्यग्दृष्टि की एक अवस्था यह है जिसमें विषय सेवन करते हुए भी वह इन्द्रिय-विषयों का व्यापारी नहीं कहलाता। दूसरी अवस्था सम्यग्दृष्टि की वह होती है जब अपनी इन्द्रियों को संकुचित करके वह आत्ममनन तथा आत्मानुभव करता है और इससे भी ऊंची अवस्था वह होती है जब सब परिग्रहादि को छोड़कर वह सतत आत्मानुभवी रहने का यत्न करता है।

आचार्य महाराज का प्रयोजन यहाँ यह बताने का है कि जब बहिरात्म-पने की दशा सर्वथा दुःखदायी ही है तब इसका त्याग कर अवश्य अंतरात्मा हो जाना चाहिए और अपने जीवन को सुखमय बनाने का उपाय करना चाहिए। संसार में दुःखों को उठाने का बीजभूत कारण मात्र एक मिथ्याबुद्धि ही है। अपने असत् श्रद्धान से ही जीव का अनादि काल से संसार में भ्रमण हो रहा है और इसको अपनी झूठी मान्यता से ही बहुत दुःख उठाना पड़ रहा है। जो जीव अपनी बुद्धि यथार्थ कर लेता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि तत्वज्ञानी हो जाता है, वह बाहर में दुःखों की सामग्री रहते हुए भी दुःखी नहीं होता और यथार्थ वस्तु स्वरूप का विचार कर सम-भाव ही रखता है। 'अंतरात्मपने को सुख का बीज जान भव्यजीव को उसे धारण करना चाहिये'-ऐसा श्री पूज्यपाद स्वामी का यहाँ अभिप्राय है।

आगे की उत्थानिका—अंतरात्मा अपनी आत्मा में आत्मबुद्धि करता हुआ यह समझता है कि अनादि काल से मुझे जिस पदार्थ का लाभ नहीं हुआ था सो पदार्थ मुझे मिल गया अर्थात् मैं अपनी आत्मा को मिथ्या ही अशुद्ध रूप जान रहा था सो अब मैं उसके सच्चे स्वरूप को पहचान गया, मुझे एक अपूर्व लब्धि मिल गई। इस तरह परम संतोषी होकर अपनी पहले की बहिरात्मपने की अवस्था को स्मरण करके विषाद करता हुआ वह इस तरह अपने मन में कहता है—

श्लोक—मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम्।
तान् प्रपद्याहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(अहं) मै (मत्तः) अपने आत्मस्वरूप से (च्युत्वा) हट करके अर्थात् आत्मस्वरूप को न जान करके (इन्द्रियद्वारैः) इन्द्रियों की कामनाओं के द्वारा (विशयेषु) इन्द्रियों के विषय सम्बन्धी पदार्थों में (पतितः) गिरा पड़ा था अर्थात् अति आसक्ति से इन्द्रिय भोगों में लिप्त हुआ पड़ा था तथा (तान्) उन विषयों को (प्रपद्य) प्राप्त होकर अर्थात् 'ये विषय मेरे उपकार करने वाले हैं' ऐसा समझकर उनमें मग्न होकर (पुरा) अनादिकाल से (अहम्) 'मैं आत्मा हूं, शरीरादिक नहीं हूं' (इति) ऐसा (मां) अपने आपको (तत्त्वतः) तत्त्व दृष्टि से अथवा परमार्थ से वा निश्चयनय से (न वेद) नहीं जानता था अर्थात् अनुभव नहीं करता था, इसका मुझे बड़ा सोच है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य देव ने बहिरात्मा से अंतरात्मा हो जाने पर उस अंतरात्मा के मन के विकल्प को दिखाया है। बहुत बार ऐसा हो जाया करता है कि हम अपने भ्रम से किसी के बारे में कुछ प्रतीति कर अनेक कष्ट सह कर कुछ चेष्टा करते हैं पर जब पता चल जाता है कि वैसा समझना हमारी भूल थी तब हमको पछतावा होता है। जैसे कोई मनुष्य देश हित के विचार से हमारे प्रबन्ध में त्रुटियाँ देखकर उसकी बुराइयाँ हमें बताता है और हम उस मनुष्य को अपना शत्रु समझकर

उससे मन में द्वेष रखते हैं तथा उसकी हानि होने का उपाय करते हैं और प्रत्युत उसे हानि पहुंचा देते हैं। कुछ काल पीछे जब हमारा यह भ्रम दूर होकर कि 'उसने हमारा अहित किया' हमें ऐसा विश्वास बैठ जाता है कि 'वह तो हमारा हितैषी था' तब हमें बहुत कुछ पछतावा होता है कि वृथा ही जो हमने इतने काल तक उससे द्वेषभाव किया वह हमारी बड़ी भूल थी, हमें तो उसकी बात पर ध्यान देकर अपनी त्रुटियों को मिटाना चाहिए था। अथवा जैसे किसी ने किसी नौकर को नौकरी पर रखा और उसका अपने हितू के रूप में विश्वास कर लिया पर था वह चोर। जब भी वह अवसर पाता था उसके माल की चोरी कर लिया करता था। जब कालांतर में स्वामी को इसका भेद मालूम हुआ कि यह नौकर तो मेरा अहितू है, चोर है तब उसे उसका विश्वास उठ जाने के साथ-साथ यह भी रंज होता है कि मैंने बड़ी भूल की जो इतने दिन तक इस चोर का विश्वास करके अपना इतना बिगाड़ किया।

इसी प्रकार वह अन्तरात्मा पश्चात्ताप करता है कि मैंने इन्द्रियों की इच्छाओं के आधीन होकर अनादिकाल से अब तक इन्द्रिय-विषय भोगों को ही अपना सर्वथा हितू समझा तथा उनके भीतर अति आसक्ति होने से बहुत कुछ न्याय-अन्याय किया एवं परलोक की भी चिन्ता नहीं की। अपनी आत्मा को मैंने बिलकुल भी न समझा और सदा अपने को शरीर-रूप ही माना किया। मैंने कभी ऐसा न जाना, न श्रद्धान किया और न अनुभव ही किया कि यथार्थ में मेरी आत्मा का स्वभाव तो कर्मकलंक रहित, राग द्वेष मोह रहित, ज्ञानमयी, आनन्दमयी, परम वीर्यमयी, निरा-कुल, शुद्धस्फटिकवत् निर्मल, अमूर्तिक, असंख्यातप्रदेशी, अनन्तगुण पर्यायों के पिंडरूप चैतन्य धातुमयी एवं सिद्ध भगवान के समान शुद्ध है। वह और विचारता है कि इन इन्द्रिय-विषय भोगों को अपना उपकारी जानकर मैंने बड़ी भारी भूल की, उन्होंने तो वास्तव में मेरा बड़ा भारी अपकार किया कि जो तीव्र पाप बंधवाकर मुझे संसार में फंसाया। उनके ही मोह-जाल में पड़कर तो परम सुख की समुद्र अपनी आत्मा को मैंने न पहचाना और विषयों में अन्धा होकर हिंसा, चोरी, झूठ, व्यभिचार आदि कुकर्म किये

जिससे घोर पाप बांधे और दुर्गति में जाकर महावेदनाएं भोगीं। वास्तव में मैंने अपने आपका घात ही किया कि जो इस परम प्रभु आत्मा को निगोद की एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण करने वाली पर्याय में भी डाल दिया। जो मेरे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व एवं चारित्र आदि गुण रूपी रत्नों के चुराने वाले थे, उनको अपना प्यारा समझकर अपना बहुत कुछ बिगाड़ मैंने किया—इस तरह पछतावा करके अपने को आज वह धन्य मानता है कि मेरी वह अनादिकालीन भूल मिटी मैंने अपने सच्चे स्वरूप को जाना तथा इन्द्रिय चोरों का कार्य मेरे विश्वास पथ में आया।

इस कथन से आचार्य महाराज ने अंतरात्मा के विश्वास की शुद्धता को बताया है क्योंकि जब तक जीव को अपने स्वरूप का पक्का विश्वास नहीं हो जाता तब तक उसके भीतर ऐसे विचार नहीं उत्पन्न होते। आचार्यदेव का अभिप्राय है कि अंतरात्मा होने वाले को ऐसे भाव मन में दृढ़ करने चाहियें तभी उसकी अंतरात्मबुद्धि स्थिर होगी और वह बहिरात्मपने से रक्षित होगा।

आगे की उत्थानिका—अब अंतरात्मा को अपनी आत्मा को जानकर उसका अनुभव करने का उपाय बताते हैं—

श्लोक—एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(एवं) जैसा कि आगे बतायेंगे, उस रीति से पहले (बहिर्वाचं) पुत्र, स्त्री, धन, धान्य सम्बन्धी बाहर कहे जाने वाले शब्दों को (अशेषतः त्यक्त्वा) सर्व तरह से छोड़कर, पीछे (अंतःवाचं) अंतरंग की वचन प्रवृत्ति को अर्थात् मै शिष्य हूं, गुरु हूं, सुखी हूं, दुःखी हूं, चेतन हूं, असंख्यात प्रदेशी हूं एवं अनन्त गुणपर्याय स्वरूप हूं इत्यादि मनके सारे विकल्पों को भी (अशेषतः) सम्पूर्णपने (त्यजेत्) त्याग देवे। (समासेन) संक्षेप से (एष) यही (योगः) योग अर्थात् अपने स्वरूप में चित्त के रोकने रूप समाधि भाव है जो कि (परमात्मनः) परमात्मा के स्वरूप का (प्रदीपः) प्रकाश करने वाला है।

भावार्थ—अब यहाँ आचार्य समाधिभाव पाने का उपाय अंतरात्मा को बताते हैं जो कि आचार्यदेव का प्रयोजन इस ग्रन्थ को लिखने का है। अपने स्वरूप में एकीभाव हो जाना ही समाधि है, वहीं स्वानुभव की प्राप्ति होती है और उस समय मन वचन काय की क्रियायें बन्द हो जाती हैं। समाधि के लाभ के लिए मनुष्य को निश्चल आसन से बैठना चाहिए और काय की क्रिया को बन्द कर देना चाहिए। फिर उसे बहिर्जल्परूप बाहरी वचन की प्रवृत्ति को बन्द करना चाहिए अर्थात् किसी भी स्त्री, पुत्र, मित्र व सेवक आदि से किसी प्रकार का भी वचनालाप न करना चाहिए यहाँ तक कि धर्म चर्चा को भी रोक देना चाहिए। फिर मंद-मंद भीतर ही भीतर कुछ जप करने वा पाठ पढ़ने रूप अन्तर्जल्प को भी बन्द कर देना चाहिए एवं तत्पश्चात् मन में 'मै ऐसा हूं, ऐसा था, ऐसा हूंगा वा मैं ज्ञानरूप हूं, दर्शनरूप हूं, चारित्ररूप हूं' इत्यादि जो चिन्तवन होता है उसे भी बन्द कर देना चाहिये। जब सम्पूर्ण रूप से मन वचन काय की बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति बन्द हो जाती है तब आत्मा का उपयोग आत्मा में ही जा डूबता है, उसी में ही तन्मय हो जाता है। उसी समय योग पैदा होता है जिस योग को ध्यान तथा समाधि भी कहते है। वहीं पर निश्चय रत्नत्रय का लाभ है तथा व्यवहार रत्नत्रय भी उसी में गर्भित है जैसा कि श्री नागसेन मुनि ने अपने 'तत्त्वानुशासन' ग्रंथ में कहा है—

श्लोक—स च मुक्ति हेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यसन्तु ध्यानं सुधियः सदाप्यपास्यालस्यं ॥३३॥

भावार्थ—इस प्रकार का जो निश्चय व्यवहार रूप मोक्षमार्ग है सो क्योंकि ध्यान के भीतर प्राप्त हो जाता है इसीलिए बुद्धिमानों को सदा ही आलस्य को त्याग कर इस ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

वास्तव में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र आत्मा के गुण हैं अर्थात् आत्मा इन तीन स्वभावों से खाली नहीं है इसीलिये जहाँ उपयोग की किरण मिटती है और उपयोग अपनी आत्मा में आप ही तन्मय

होता है वहां निश्चय रत्नत्रय रूप साक्षात् मोक्षमार्ग अवश्य है तथा क्योंकि काया की क्रियाएं भी वहां संकुचित रूप हैं और मन में किसी क्रिया का वा अन्य किसी प्रकार का कोई विकल्प न होते हुए भी अन्तरंग में पदार्थों का ज्ञान व श्रद्धान वर्त रहा है इसीलिये वहां व्यवहार रत्नत्रय भी है। इस तरह योग रूप होने से जो स्वानुभवरूपी ध्यानाग्नि जलती है वह काष्ठ के समान कर्मरूपी ईंधन को तो जलाती है और अज्ञान अन्धकार को दूर करके परमात्मा का स्वरूप प्रकाश में लाती है। यही मोक्ष का उपाय है। इसी सतत स्वानुभव से संवरपूर्वक निर्जरा होती है और आत्मा धीरे-धीरे शुद्धता को प्राप्त करता जाता है। आगे आचार्य इस योग-साधन के ही उपायों का विशेष खुलासा करेंगे, उसी के लिए यह कथन पीठिका रूप समझना चाहिये।

आगे की उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बाहरी वचन की प्रवृत्ति का त्याग करने के लिये अन्तरात्मा को ऐसा विचारना चाहिये—

श्लोक—यन्मयादृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन् न दृश्यते रूपं ततःकेन ब्रवीम्यहम् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(यत् रूपं) इन्द्रियगोचर जो शरीर आदि रूपी पदार्थ (मया) मेरे द्वारा (दृश्यते) इन्द्रियों से जाना जाता है (तत्) वह पदार्थ अचेतन होने से कहे हुये वचन को (सर्वथा) बिलकुल भी (न जानाति) नहीं जानता है (इसीलिये जो जड़ रूपी पदार्थ हैं उनसे क्या बात करनी, जो जान सकते हैं उन्हीं से बात करनी उचित है।) तथा (जानन् रूपं) जो जानने वाला चैतन्य स्वभाव है वह (न दृश्यते) दिखलाई नहीं पड़ता है अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा जानने में नहीं आता है क्योंकि वह अमूर्तिक एवं स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहित है (ततः) जब ऐसी दशा है तब (अहम्) मैं (केन) किसके साथ (ब्रवीमि) बात करूं ?

भावार्थ—यहां पर आचार्य बोलने का झगड़ा छुड़ाकर अन्तरात्मा को आत्म-अनुभव करने का उपाय बताते हुये द्रव्यार्थिक नय को प्रधान

कर जगत का स्वरूप बताते हैं कि द्रव्य दृष्टि से देखा जाये तो हर एक प्राणी में प्रगट किया करने वाले पुद्गल और जीव—ये दो ही द्रव्य हैं। पुद्गल द्रव्य का स्वरूप देखा जाये तो वह बिल्कुल अचेतन है, जड़ है, वह कुछ समझ नहीं सकता। यद्यपि वह दिखाई तो देता है तथापि ज्ञानशून्य होने से उसे यदि हम कोई बात कहें तो वह सुन नहीं सकता। जीव द्रव्य का स्वभाव देखा जाये तो वह यद्यपि चेतन है, बात को समझ सकता है तथापि अमूर्तिक होने से हमारी इन्द्रियों से वह दीखता नहीं और जब हम उसे देख ही नहीं सकते तब उससे बात ही क्या करें।

दूसरी बात जीव के सम्बन्ध में यह भी है कि उसका स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है पर उसके मतिज्ञान श्रुतज्ञान नहीं है, इससे इन्द्रियों के द्वारा देखने का व सुनने का काम वह नहीं कर सकता। यदि वह हमारी बात सुन कर हमसे बात कर सकता होता व हमें उत्तर दे सकता होता तो उससे बात करना भी ठीक था पर जब जीव का स्वभाव संकल्प-विकल्प रहित, शुद्ध, निर्विकार एवं राग द्वेषादि मैल से रहित ही है तब उसके द्वारा हमारी बात सुनने का विकल्प करना और फिर हमें उत्तर देने का विकल्प करना असम्भव है क्योंकि द्रव्यार्थिक शुद्धनय से आत्मा का स्वभाव भी अमृतचन्द्र महाराज ने इस भांति कहा है—

श्लोक—आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकं।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥१८॥

भावार्थ—शुद्ध निश्चयनय ऐसा बतलाती है कि आत्मा का स्वभाव परभाव से जुदा, अपने गुणों से पूर्ण, आदि व अन्त से रहित, एकरूप तथा संकल्प विकल्प के जालों से रहित है।

अनुभव के लिये अभ्यास करने वाले अंतरात्मा को यही उचित है कि वह अपनी आत्मा को तथा जगत को द्रव्यदृष्टि से देखे। जब वह ऐसा देखेगा तब अवश्य ही उसके समता प्रकाशमान हो जायेगी। इस दृष्टि से देखने पर हर एक मनुष्य में आत्मा और पुद्गल—ये दो द्रव्य अलग-अलग दीखते हैं और इस कारण वचनों का कहना व सुनना बनता ही नहीं

क्योंकि पुद्गल तो जड़ होने से बात सुनने और कहने से लाचार है और जीव शुद्ध निर्विकार होने से बात के सुनने व कहने के झगड़े में पड़ नहीं सकता। इस तरह अन्तरात्मा को अपने भीतर विचारकर किसी से बात करने का भाव मन से बिल्कुल निकाल देना चाहिये।

कहने का तात्पर्य यह है कि आत्म-अनुभव के समय वार्त्तालाप करने का भाव भी बाधक है। आचार्य महाराज ने बहुत ही अपूर्व युक्ति से अन्तरात्मा की वचन प्रवृत्ति को हटाया है। साधक प्राणी को उचित है कि इस बात पर पूरा लक्ष्य देकर एवं मनन करके इसे पक्का समझ ले।

आगे की उत्थानिका—अब आचार्य बताते हैं कि अपने भीतर के विकल्प को छोड़ने का यत्न करते हुये अंतरात्मा को इस तरह विचार करना चाहिये—

श्लोक—यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥१९॥

अन्वयार्थ—अंतरात्मा विचार करता है कि (यत्) जो कुछ (अहम्) मै (परैः) दूसरों से अर्थात् उपाध्याय आदिकों से (प्रतिपाद्य) समझाने योग्य हूं तथा (यत्) जो कुछ (परान्) दूसरों को अर्थात् शिष्यों को (प्रतिपादये) मैं समझाता हूं (तत्) वह सब (मे) मेरी (उन्मत्त चेष्टितं) उन्मत्तपने की चेष्टा है अर्थात् मोह के आधीन होकर मेरे मन का यह सब विकल्प जाल है, जैसे बावले की सी क्रिया हो वैसी यह मेरी क्रिया है (यत्) क्योंकि (अहम्) मै तो वह आत्मा हूं जो (निर्विकल्पकः) सब प्रकार के विकल्पों से रहित है अर्थात् जो आत्मा वचन विकल्पों से कभी ग्रहण में नहीं आ सकता सो ही मैं हूं।

भावार्थ—यहां पर आचार्य अंतरात्मा को भीतरी विकल्प हटाने की शिक्षा देते हुए कहते हैं कि उसे ऐसा विचार करना चाहिये कि मेरी आत्मा का स्वरूप केवल अनुभव गम्य है, वह स्वरूप न तो किसी विकल्प में

ही पाया जाता है और न किसी विकल्प से या वचन के भेद से उसका अनुभव ही हो सकता है इसीलिये मेरा ऐसा सोचना कि मुझे कोई अन्य, आत्मा के स्वरूप का अनुभव करा देगा या मैं किसी दूसरे को समझा कर उसे आत्मा का ग्रहण करा दूंगा, केवल उन्मत्त व्यक्ति के विचार के समान है। जो काम हो ही नहीं सकता उसको करना या करने का विकल्प करना मात्र वृथा ही है। आत्मा जब निर्विकल्प है अर्थात् अभेद रूप से अनन्त गुणों का समुदाय है तब उसका वर्णन वचनों से होना कठिन है। वचनों से तो केवल इशारा मात्र होता है। कोई ऐसा दावा करे कि मैं वचनों से किसी दूसरे को समझा दूँगा या दूसरा कोई मुझे समझा देगा सो असंभव है। आत्मा का ज्ञान तो तब ही होगा जब उस आत्मा का अनुभव होगा इसी कारण उसे विकल्प रहित कहते हैं। यहाँ पर भी आचार्य देव ने निश्चयनय को प्रधान करके ऐसा कहा है। जो नय वास्तविक बात का प्रतिपादन करती है उसे निश्चयनय कहते है। उसी नय से यह बात कहने में आती है कि आत्मा अनुभवगोचर है।

ध्यान में बैठकर मनन करने वाले को उचित है कि जैसे वह बाहरी वचनों की प्रवृत्ति को छोड़े वैसे ही अंदर के मन के विकल्पों को भी त्यागे। सर्व वचन-प्रवृत्ति और मन के विचारों को, जिनका कि सम्बन्ध अपनी आत्मा के सिवाय अन्य पर वस्तुओं से है, बिलकुल छोड़ देना चाहिए। आत्मानुभवी पहले आत्मा के स्वरूप का मनन करता है और फिर मनन करते-करते जब वह स्वरूप में थिर हो जाता है तब स्वानुभव पैदा होता है। इस तरह अपने स्वरूप के अनुभव का प्रेमी वह अंतरात्मा सर्व बाहरी और भीतरी विकल्पों को छोड़कर आत्मा रूपी बाग में ही क्रीड़ा करने लगता है और वहीं जमकर स्वरूपानंद का परम स्वाद लेता है।

आगे की उत्थानिका—आचार्य कहते हैं कि विकल्पों से रहित उस आत्मा का स्वरूप अंतरात्मा के अनुभव में इस रूप में आता है—

श्लोक—यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२०॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो शुद्धात्मा का स्वरूप है वह (अग्राह्यं) अपने स्वरूप से बाहर जो ग्रहण में आने योग्य नहीं हैं ऐसे कर्मपुद्गलों व कर्म के उदय के निमित्त से होने वाले क्रोधादि भावों को तो (न गृह्णाति) ग्रहण नहीं करता है अर्थात् अपने आत्मस्वभाव रूप नहीं करता है तथा (गृहीतं) जिस अनन्त ज्ञानादि स्वरूप को वह ग्रहण किये हुये है उसको कभी भी (नापि मुञ्चति) छोड़ता नहीं है तथा (सर्वं) सर्व चेतन और अचेतन वस्तुमात्र को (सर्वथा) सब तरह से उनके अनंत गुण व पर्यायों सहित (जानाति) जानता ही है (तत्) ऐसा वह (स्वसंवेद्यं) अपने ही द्वारा अपने अनुभव में आने योग्य आत्मा (अहम्) मैं (अस्मि) हूं।

भावार्थ—यहां पर आचार्य देव ने अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय व पर्यायार्थिक नय को बिल्कुल गौण कर दिया है तथा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से ऐसा कहा है कि यह आत्मा आत्मरूप ही रहता है तथा जितने अनन्त गुणों व स्वभावों का यह अखण्ड पिंडरूप एक द्रव्य है, उन गुणों में से किसी भी गुण को यह कभी त्यागता नहीं तथा अपने सिवाय अन्य किसी द्रव्य को या उसके किसी गुण के किसी भी अंश को कभी ग्रहण नहीं करता। असल में देखा जाये तो प्रत्येक वस्तु का स्वभाव ऐसा ही है। हरएक द्रव्य में साधारण अगुरुलघुगुण है जिसका यही काम है कि उस द्रव्य को व उस द्रव्य के किसी भी गुण को किसी भी तरह अपनी मर्यादा से बाहर वह नहीं जाने देता अर्थात् जीव कभी पुद्गल नहीं हो सकता व पुद्गल कभी जीव नहीं हो सकता। जो ज्ञान, दर्शन, सुख व वीर्य आदि विशेष गुण जीव के हैं वे जीव में तथा जो स्पर्श, रस, गंध और वर्णादि विशेष गुण पुद्गल के हैं वे पुद्गल में सदा रहते हैं। यदि ऐसा न होता तो जीव पुद्गल की संगति से पुद्गल हो जाता व पुद्गल जीव की संगति से जीव हो जाता पर ऐसा कभी भी नहीं होता।

किसी एक द्रव्य के गुणों का दूसरे द्रव्य के सम्बन्ध से आच्छादन तो हो जाता है पर वह गुण उसमें से चला नहीं जाता। जैसे एक तोले सुवर्ण में दस तोले चांदी मिलाकर यदि कोई आभूषण बनावे तो सोने के

पीतादि गुण बहुत कुछ ढक तो जाते हैं परन्तु सोने का सोनापना अर्थात् उसका कोई भी गुण उस सोने में से नष्ट नहीं हो जा।। और इसी कारण कारीगर प्रयोग करके उस ग्यारह तोले के पिंड में से दस तोले चाँदी को व एक तोले सुवर्ण को अलग-अलग कर देता है। इसी प्रकार पानी में दूध मिला देने पर हंस दूध-दूध को पहचान कर पी लेता है और पानी-पानी को छोड़ देता है, इससे यही अर्थ निकलता है कि दूध व पानी के मिले होने पर भी दूध कभी पानी रूप नहीं होता तथा पानी कभी दूध रूप नहीं होता। हर एक वस्तु का ऐसा स्वभाव ही है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अपने-अपने स्वभावरूप जो भी मूल द्रव्य हैं वे पर द्रव्यों से मिलने पर भी कभी भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। आत्मा भी अनादि काल से कर्मों से बंधा होने पर कभी भी अपने स्वभाव से रहित नहीं हुआ। अरहंत अवस्था में आत्मा के वे ही गुण जो कि पहले प्रच्छन्न थे, प्रगट हो जाते हैं।

इसी नियम के अनुसार विचार करने पर आचार्य देव ने यहाँ यह बताया है कि अंतरात्मा के अनुभव में ऐसा श्रद्धायुक्त दृढ़ भाव व उसका संस्कार होता है कि वह सिवाय अपने आपके अन्य किसी को ग्रहण नहीं करता अर्थात् अपने रूप नहीं मानता यहाँ तक कि अपने ही गुणों की पुद्गल कर्मों के उदय से जो औपाधिक अवस्था होती है, उसे भी वह अपने स्वभाव से भिन्न अनुभव करता है। केवल शुद्ध पारिणामिक भाव-रूप ही वह स्वयं को जानता है। 'मैं क्योंकि ज्ञायक हूं इससे सर्व को जानने वाला ही हूं परन्तु जिनको जानता हूं उन रूप कभी नहीं होता और न वे ही कभी मुझ रूप होते हैं' ऐसा वह मानता है तथा यह समझता है कि मैं आप अपने ही द्वारा अनुभवने योग्य हूं अथवा जो अनुभवने योग्य तत्त्व है वही मैं हूं। इस तरह आचार्य श्री ने विकल्प रहित जो अनुभव दशा है, उसका स्वरूप शब्दों में बताया है पर इसका यह भाव नहीं समझना चाहिए कि अंतरात्मा उपर्युक्त प्रकार के विकल्प किया करता है, जब तक विकल्प रहते हैं तब तक तो अनुभव दशा होती नहीं।

आचार्य देव ने ग्रंथ पढ़ने वाले जीव को निर्विकल्प अनुभव दशा का यहाँ दृश्य दिखाकर और अनुभव के समय के ज्ञान की महिमा बताकर स्वानुभव की तरफ आकर्षित किया है।

आगे की उत्थानिका—इस प्रकार आत्मज्ञान व स्वानुभव की प्राप्ति करके वह अंतरात्मा जब सविकल्प दशा में आता है तब ऐसा विचारता है कि आत्मज्ञान होने से पहिले मेरी चेष्टा इस प्रकार की रह चुकी है—

श्लोक—उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम्।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(यद्वत्) जिस तरह (स्थाणौ) स्थाणु या खंभे में (उत्पन्न पुरुष भ्रान्तेः) पैदा हुआ है पुरुषपने का भ्रम जिसको, उसकी (विचेष्टितम्) नाना प्रकार की विपरीत चेष्टा होती है (तद्वत्) उसी प्रकार (पूर्वं) पहले (आत्मविभ्रमात्) आत्मा के विषय में भ्रम होने से वा आत्मा को उल्टा समझने से (देहादिषु) शरीर आदि के सम्बन्ध में (मे) मेरी (चेष्टितं) चेष्टा थी।

भावार्थ—वह अंतरात्मा विकल्पसहित अवस्था में ऐसा विचार करता है कि मैंने आत्मज्ञान होने से पहले बहुत भारी भूल की और उस भूल से बहुत सा क्लेश उठाया। वह विचारता है कि जैसे कोई व्यक्ति भूल से कहीं पर किसी खम्भे को पुरुष समझकर उससे डरकर भागे या उसे कोई अपना सगा समझकर उसके लिए अनेक सामग्री इकट्ठी करने में लग जावे और बहुत मेहनत करे पर पीछे जब उसको मालम पड़े कि यह तो पुरुष नहीं है किन्तु खंभा है तब अपनी मूर्खता पर बहुत पछतावे कि मैंने बहुत भूल की और उस समय से खंभे को खंभा ही समझने लगे तथा खंभे के साथ खंभे का सा ही व्यवहार करने लगे, बिल्कुल उसी तरह मेरी भी दशा है। मैंने अज्ञान अवस्था में भूल से जड़ पुद्गलमयी शरीर को, धन धान्यादि को, अन्य स्त्री-पुत्रादिकों को व राग-

द्वेषादि भावों को अपना ही माना। 'मैं शरीररूप ही हूं, इन्द्रियभोग करना ही मेरा कर्त्तव्य है तथा यही सुख का उपाय है' ऐसा समझा और 'मैं शुद्ध चैतन्यधातुमयी, अनन्तगुणों का समुदायरूप, उत्पादव्ययध्रौव्य-स्वरूप, परम अतीन्द्रिय सुखमयी आत्मा हूं' ऐसा न समझा और इसी कारण अनादि काल से मुझको नाशवंत शरीर व छूट जाने वाले पुत्र, स्त्री, धनादि के लिये ही रात-दिन चिन्तित होना पड़ा। उनके संयोग में कुछ थोड़ा सा हर्ष तथा उनके वियोग में बड़ा भारी शोक उठाना पड़ा। उनके लिए मैंने नाना प्रकार के हिंसा, चोरी, झूठ, कुशील व परिग्रह आदि पाप किये, अन्याय करने में भय न किया, दूसरों को सताने में कुछ ग्लानि न की और स्वार्थ साधन में अन्धे होकर न जाने क्या-क्या अनर्थ किये जिनको याद करने से भी अब मुझे कंपकंपी शुरू होती है।

अन्तरात्मा पश्चात्ताप करता है कि नरभव समान जन्म को भी जो कि आत्मोपकार के लिए बड़ा भारी निमित्त था, मैंने कुछ परवाह न की मानो कौड़ियों के मोल रत्न को गंवाया, ईधन के लिए चंदन को जलाया और पैर धोने में अमृत से काम लिया। इस प्रकार महापाप बांधकर मैं खोटी गतियों में गया और वहाँ अनेक संकट उठाये। एकेन्द्रिय की निगोद पर्याय में एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण करके अत्यन्त क्लेश को मैंने प्राप्त किया। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पतिकाय एकेन्द्रिय में मैं बार-बार जन्म पाकर रौंदा, औटाया, बुझाया, चलाया, काटा, छीला व रांधा गया। लट, कौड़ी व शंख आदि द्वीन्द्रिय के शरीर में मैं रत हो गया, रसना की लोलुपता में जन्म गंवाया, उस शरीर रूप अपने को माना और बड़े कष्ट से प्राण त्यागे। त्रीन्द्रिय पर्याय में चींटी, जूं, खटमल आदि होकर नाक के विषय में बहुत मोहित रहा और लोभ की तीव्रता में दबकर, छिलकर, भिड़कर व कुटकर अनेक कष्टों से मरा। चतुरिन्द्रिय पर्याय में मक्खी, भौंरा, पतंगा व भिरड़ आदि हुआ और वहाँ नेत्रादि इन्द्रियों के वशीभूत हो जल-भुनकर, दूध, दही, मलाई, मिठाई आदि में मरकर व मल, थूक आदि में फंसकर मैंने प्राण गंवाये। पंचेन्द्रिय असैनी

पर्याय में जल के सर्प आदि होकर सबलों से दुःख उठाये एवं पंचेन्द्रिय सैनी पर्याय में अनेक प्रकार के भेड़, बकरी, गाय, भैंस, बन्दर, हिरण, घोड़ा, हाथी, नाग, कछुआ व मेंढक आदि पशु होकर और कौवा, कबूतर, मैना, तोता व तीतर आदि पक्षी होकर सबलों से मार खाई, भूख-प्यास की वेदनाओं से मरा एवं दुष्ट शिकारियों, मांसाहारियों व कसाइयों द्वारा निर्दयता से मारा गया। पांचों इन्द्रियों के विषयों के लोभ में फंसकर मैं उन्हीं का दास बना रहा और कभी भी वहाँ अपने आपको न पहचाना।

इस प्रकार अंतरात्मा विचार करता है कि चौरासी लाख योनियों के भीतर इस जगत में मै भ्रमा और जिस शरीर में भी गया उसी में पर्याय बुद्धि रहकर ज्ञान की दृष्टि न पाई। अपने इस अज्ञान भाव के कारण मैंने कभी भी सबसे भिन्न एकाकार अपनी आत्मा का अनुभव नहीं किया। अपने पास अनुभव-आनन्द रहते हुए भी उसको न पहचाना और सुख की तृष्णा में पर की ही सेवा करके महा विपदाएं उठाई। शास्त्रों में कहा है और बुद्धि भी यही कहती है कि तीव्र मिथ्यात्व व कषाय से अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ से जीव को घोर पाप कर्म का बन्ध होता है। मैने इसी भाव से घोर पाप बांध संसार चक्र में अनन्त काल से बहुत परावर्त्तन किये। अब मेरी इस मिथ्या बुद्धि को धिक्कार हो। यदि मैं अज्ञानी न होता तो अनादि से जो मेरा बड़ा भारी अलाभ हुआ वह न हुआ होता।

जिस तरह बलदेव भ्रमबुद्धि व मोह से नारायण के मृतक शरीर को जीवित समझकर छः मास तक लिये लिये फिरते हैं, उठाते बैठाते हैं, उसे खिलाने-पिलाने, वस्त्र पहनाने व उससे बात करने आदि का उद्यम करते हैं परन्तु मृतक शरीर में कोई चेष्टा न होते देखकर क्लेश के मारे अत्यन्त दुःखी होते हैं। जब छह मास बीतने पर उनको किसी निमित्त से यह ज्ञान होता है कि यह तो मृतक देह है, नारायण की आत्मा तो इसमें से छह महीने पूर्व ही चली गई थी तब अपनी कुचेष्टा पर वे बहुत भारी पश्चात्ताप करते है उसी तरह अंतरात्मा भी पश्चात्ताप करता है कि मैंने मृतकसम इस देह को अपना समझकर वृथा ही इसके लिए घोर दुःख सहे।

इस तरह अंतरात्मा अपनी पिछली अवस्था को याद करता है। यहां पर आचार्य श्री ने अंतरात्मा को प्रेरणा की है कि उसे इस तरह इतना पक्का हो जाना चाहिए कि भूलकर भी फिर कभी उसकी पर्याय बुद्धि न हो।

आगे की उत्थानिका--अब अंतरात्मा विचारता है कि सच्चा ज्ञान हो जाने पर अब मेरी कैसी चेष्टा हो गई है--

श्लोक—यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे ।
तथा चेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः ॥२२॥

अन्वयार्थ--(यथा) जैसे (असौ) वही पुरुष जिसे कि खंभे में पुरुषपने का भ्रम हो गया था (स्थाणौ) खंभे में (पुरुषाग्रहे) पुरुषपने का हठ (निवृत्ते) दूर हो जाने पर (चेष्टते) यथायोग्य चेष्टा करता है अर्थात् खंभे को पुरुष मानकर जो डरना, भागना व अन्य चेष्टा आदि करने का उद्यम हो रहा था, उसको छोड़ देता है (तथा) वैसे मैं (देहादौ) शरीर आदि के सम्बन्ध में (विनिवृत्तात्मविभ्रमः) आत्मपने का भ्रम या मिथ्यात्व दूर हो जाने पर (चेष्टोऽस्मि) यथायोग्य रीति से वर्तन करता हूं।

भावार्थ--यहां पर अन्तरात्मा अपनी वर्तमान अवस्था का विचार करता है कि अब मुझे जो आत्मज्ञान हुआ है इससे मेरी जो चेष्टा शरीर, स्त्री, पुत्र व इन्द्रियों के विषयों आदि में पहले थी सो बिलकुल बदल गई है। पहले मैं इन्द्रिय विषय के सुख को ही अपना सर्वस्व मानता था और मेरा सारा लौकिक व्यवहार इसी हेतु से था। यहां तक कि जो कुछ दान-पुण्य भी मैं करता था, उसमें भी मैं यही उद्देश्य दिल में रखता था परन्तु अब मेरे जीवन का उद्देश्य बदल गया है। अब मैंने अतीन्द्रिय सुख को पहचान लिया है तथा उसका स्थान अपनी आत्मा को ही जाना है इसीलिए अब मुझे आत्मानुभव का साधन ही मुख्यता से करना है और इसीमें मेरी अंतरंग की गाढ़ रुचि है। जैसी रुचि गृहस्थ कार्य में लगे हुए क्षायिक सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती राजाओं-शांति, कुंथ तथा अरह तीर्थंकरों की थी व परम गृहस्थ श्री ऋषभ भगवान् की गृहवास के समय में थी, वैसी रुचि मुझमें अब गाढ़

जम गई है। तथा चारित्र मोह के उदय से वे तीर्थंकर आदि सम्यग्दृष्टि राजा जैसे बहुत काल तक गृहस्थी में रहे और अनासक्ति से अर्थ और काम पुरुषार्थ को साधते रहे तथा अपनी दृष्टि मुख्यता से निज आत्मा के अनुभव पर ही रखी वैसे ही मैं भी जब तक मेरे चारित्र मोह का उदय है तब तक गृहवास न छोड़ते हुए अनासक्ति से अर्थ और काम पुरुषार्थ का साधन करता हूं।

वह विचारता है कि अब मैं शरीर को एक झोंपड़ी मात्र समझता हूं। इसकी रक्षा बनी रहे इसीलिए इसको भोजन पानी देता हूं और इससे काम लेता हूं। अब मैंने अनावश्यक अभक्ष्य पदार्थों से शरीर को पुष्ट करना छोड़ दिया है और यथासंभव ऐसा भोजन करना चित्त में धारा है जिससे शरीरमें किसी प्रकार की कोई बीमारी भी न हो एवं स्वास्थ्य भी भली प्रकार बना रहे। स्त्री को मैं पहले विषय सेवन की मशीन समझता था, अब मैं उसको अपनी अर्द्धांगिनी समझता हूं तथा उसे अपने धर्म-सेवन में सहकारी जानता हूं। अब मेरा उसकी आत्मा के सुधार की तरफ जितना ध्यान है उतना ध्यान उसके शरीर के मोह में नहीं किन्तु फिर भी उसके शरीर के स्वास्थ्य की रक्षा में तो राग अवश्य है। मेरा कर्त्तव्य उसे धर्म मार्ग बताना व उससे शुद्ध रसोई प्राप्त करना है जिससे बुद्धि निर्मल रहे।

उसकी चिन्तन धारा और आगे बढ़ती है कि पुत्रों की तरफ भी मेरा मोह अब दूसरे प्रकार का हो गया है। मैं अब यही ठीक समझता हूं कि उन्हें लौकिक और पारलौकिक विद्या में व शरीर में बली बनाऊं तथा उनका विवाह प्रौढ़ अवस्था में करूं जिससे उनका जीवन योग्य बने और वे आत्महित रक्षक, परोपकारी तथा साहसी बनें। पुत्रियों को भी चेलना, चन्दना और अनन्तमती के समान विद्यासम्पन्न बनाना ही अब मैं ठीक समझता हूं जिससे वे भी अपने जीवन का धर्माचरणपूर्वक निर्वाह करें। अब मैंने अन्याय से धन कमाने के प्रति घृणा पैदा की है तथा विवाह शादी आदि लौकिक कामों में व्यर्थ खर्च करने का भाव दूर किया है। आवश्यक लौकिक कामों में भी मैं अब यथासंभव कम खर्च करता हूं और

तक हो सके धन को बचाकर उसे धर्म की वृद्धि, विद्या की उन्नति तथा परोपकार आदि में लगाता हूं। ज्ञानपूर्वक वर्तना ही मेरे जीवन का आज मुख्य उद्देश्य है। इस प्रकार विचारकर वह अन्तरात्मा परम संतुष्ट होता है।

आगे की उत्थानिका—आत्मानुभव के लिए अन्तरात्मा विचारता है कि मेरी आत्मा में लिंग भेद व संख्या भेद नहीं है किन्तु इन विकल्पों से रहित उसका तो एक साधारण स्वभाव है—

श्लोक—येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मानमात्मनि ।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥२३॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस (आत्मना) चैतन्य स्वरूप करके (अहम्) मैं (आत्मनि) आत्मा में (आत्मानं) आत्मा को (आत्मनैव) आप ही, अपने से ही (अनुभूये) अनुभव करता हूं (सः) वही (अहं) मैं हूं। ऐसा मेरा स्वरूप (न तत्) न नपुंसक है, (न सा) न स्त्रीलिंग है, (न असौ) न पुल्लिंग है तथा (न एको) न एक है, (न द्वौ) न दो है (वा) अथवा (न बहुः) न बहुत है।

भावार्थ—अंतरात्मा विचारता है कि मेरी आत्मा का स्वभाव अनुभव-गम्य है। जो कोई आत्मा का अनुभव अपने स्वरूप के भीतर अपने ही आप अपने स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा उस तरह का करता है जिस तरह का इस आत्मा का सर्व परद्रव्यों, परभावों व पर के निमित्त से होनेवाले भावों से भिन्न स्वभाव है, उस समय उसके अनुभव में जो कुछ आता है वही मैं हूं। मेरी आत्मा का स्वभाव क्योंकि सिद्ध समान शुद्ध है इसी से मेरी आत्मा के निश्चय से कोई शरीर नहीं है। स्त्री, पुरुष व नपुंसक भेष तो शरीर के हैं, मैं इन भेषों के विकल्पों से दूर हूं।

अंतरात्मा स्पष्ट रूप में जानता है कि मेरी आत्मा का स्वभाव, लिंग व भेद के झगड़ों से बिल्कुल रहित है। यद्यपि भेद दृष्टि से देखते हुए आत्म-पदार्थ को निश्चयनय से एक रूप और व्यवहारनय से दो रूप जैसे

ज्ञान, दर्शनरूप; तीन रूप जैसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप एवं चार रूप जैसे दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्यरूप आदि अनेक रूप देखा जा सकता है तथापि विकल्पों को छोड़कर उसे जब मैं अभेदरूप अनुभव करता हूं तब वहां एक, दो वा अनेक की कोई कल्पना नहीं रहती। उस तत्त्वज्ञानी को इस बात का अनुभव तथा सच्चा ज्ञान होता है कि मैं वचन अगोचर अनन्त गुणों का स्वामी रूप आत्मा हूं, वचनों से कुछ थोड़े से ही गुण उस आत्मा को पहचानने के लिए कहे जाते हैं जिनके कथन से मात्र इतना ही प्रयोजन निकलता है कि हम उन गुणों के द्वारा आत्मा को अन्य पुद्गलादि द्रव्यों से भिन्न पहचान सकते है पर भेद नय से उसका पूरा स्वरूप नहीं जाना जा सकता।

यहाँ पर आचार्य देव का लक्ष्य अभेद अखंड आत्मा के स्वरूप को दिखाने का है इसी से उन्होंने कहा है कि यथार्थ आत्मा में न तो कर्मों के उदय से होने वाली किसी भी अवस्था की इस रूप की तुम कल्पना करना कि यह एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय या पंचेन्द्रिय आदि रूप है या क्रोधी, मानी, लोभी, मायावी रूप है अथवा मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, श्रावक, मुनि, अर्हंत, केवली या श्रुत केवली आदि पर्याय रूप है और न ही उसमें गुणों के भेदरूप वा कारकों के भेदरूप कल्पनायें तुम करना क्योंकि इन सब कल्पनाओं के होते हुए एकाग्ररूप से आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता। वास्तव में जब कल्पनाओं की आग शांत होती है तभी वीतरागता और समताभाव की आभा चमकती है और उसी समय स्वानुभव होता है। 'अंतरात्मा कैसे स्वानुभव करता है' इस बात का दिग्दर्शन आचार्य श्री ने यहाँ कराया है।

आगे की उत्थानिका—आगे अंतरात्मा फिर विचारता है कि जिस आत्मा के स्वरूप का मैं अनुभव करता हूं वह कैसा है—

श्लोक—यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

अन्वयार्थ—(यत् अभावे) जिस स्वसंवेदनगोचर आत्मस्वरूप के प्राप्त

न करते हुए अर्थात् जिसका अनुभव न करने से (अहं) मैं (सुषुप्तः) सोया हुआ था अर्थात् पदार्थ के यथार्थ ज्ञान को न पाकर अज्ञानरूपी नींद में गाढ़पने बेहोश हो रहा था (पुनः) तथा (यत् भावे) जिस आत्मस्वरूप के पाने पर यानि जिसका अनुभव हो जाने पर मैं (व्युत्थितः) विशेषपने जाग गया तथा मैंने स्वरूप के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर लिया (तत्) वह आत्मस्वरूप जो कि (अतीन्द्रियम्) इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण योग्य नहीं है, स्वभावजन्य है, (अनिर्देश्यं) शब्दों के द्वारा कहने योग्य नहीं है तथा (स्व-संवेद्य) अपने ही द्वारा अनुभव करने योग्य है (अहम्) सो ही मै (अस्मि) हूं।

भावार्थ--यहाँ पर अंतरात्मा की आत्मश्रद्धा की दृढ़ता को बताया गया है। वह यह समझता है कि अपनी आत्मा का स्वरूप अपने ही अनु-भव में आने योग्य है। वह अनन्त गुणों का समुदायरूप एक अखंड वस्तु है अतः उसको शब्दों के द्वारा कहा जाना असंभव है, शब्द तो उसके स्वरूप की ओर एक इशारा मात्र करते है तथा वह और उसके गुण क्योंकि अमूर्त्तिक हैं इसीलिए मूर्त्तिक इन्द्रियों के द्वारा भी उस आत्मा के स्वरूप का ग्रहण नहीं हो सकता, वह तो मात्र स्वसंवेदनगम्य है।

वह अंतरात्मा आत्म-अनुभव हो जाने पर ऐसा सोचता है कि मुझे जब आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न था तब मैं बहुत ही अज्ञानी था। मै मोह की नींद में सो रहा था। अपने भीतर जो सुख तथा ज्ञान का भंडार है उसके पते से तो मै बेखबर था और सुख की इच्छा से पर-पदार्थों की तृष्णा में जल रहा था। जैसे सोया हुआ मनुष्य अपनी गफलत से चोरों के द्वारा लूटा जाता है वैसे ही मै इन्द्रिय-विषय की चाहनारूप चोरों से लूटा गया। मेरा ज्ञान भंडार नष्ट-भ्रष्ट हुआ। अब मैं जब जागा तो मैंने अच्छी तरह पहचाना कि मै तो पुद्‌गलादि परद्रव्यों से भिन्न, रागद्वेषादि विकारों से रहित और परमानन्दमय एक आत्मपदार्थ हूं। इन्द्रियविषय चोर हैं—ऐसा अब मुझे निश्चय हुआ। मै जिस आत्मस्वरूप के अनुभव बिना अज्ञानी था तथा जिसका अनुभव होने से ज्ञानी हुआ, वही जो कोई शुद्ध चिदानन्दमयी वस्तु है सो ही मैं हूं। इस तरह अंतरात्मा अपने यथार्थ-

स्वरूप का गाढ़ निश्चय रखता है और उसी निश्चय का यह बाहरी चिन्ह है कि उसकी सर्व परद्रव्यों से रुचि हट जाती है।

आगे की उत्थानिका—अब अंतरात्मा विचारता है कि उस आत्म-स्वरूप का अनुभव करते हुए रागद्वेषादिभाव नहीं रहते अतः वहां न कोई शत्रु मालूम होता है और न कोई मित्र—

श्लोक—क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२५॥

अन्वयार्थ—(तत्त्वतो) तत्त्वदृष्टि से अर्थात् शुद्ध निश्चयनय से (मां) अपने को (बोधात्मानं) ज्ञानस्वरूप (प्रपश्यतः) अनुभव करने से (अत्रैव) इस जन्म में ही अथवा यहाँ ही (रागाद्याः) रागद्वेषादि भाव (क्षीयन्ते) नष्ट हो जाते हैं (ततः) इसीलिए (मे) मेरा (न) न (कश्चित्) कोई (शत्रुः) शत्रु है (च) और (न) न कोई (प्रियः) मित्र है।

भावार्थ—अंतरात्मा जब स्वानुभव की अपेक्षा से विचार करता है तो उसको प्रतीत होता है कि जब मै निश्चयनय से अपनी आत्मा को देखता हूं तो उसका स्वरूप ज्ञानमय, वीतराग तथा आनन्दमय भासता है और उसके स्वरूप में क्योंकि रागद्वेषादि की कल्पना ही नहीं रहती अतः वहाँ यह विचार कि कोई मेरा शत्रु अथवा मित्र है, बिल्कुल नहीं रहता। इस श्लोक का दूसरा भाव यह है कि अपनी आत्मा को वीतराग विज्ञानमय अनुभव करते हुए ज्ञानी सम्यग्दृष्टि को असल में अन्य कोई भी आत्मा छोटा या बड़ा नहीं मालूम होता, सब ही उसे ज्ञानानन्दमय दीखते हैं। व्यवहार में प्रयोजनवश चाहे किसी को शत्रु व किसी को मित्र वह मानता हो पर निश्चय से उसका कोई शत्रु या मित्र नहीं रहता तथा इस स्वानुभव के अभ्यास से उसके जितना-जितना रागद्वेष का रस सूखता जाता है, उतना-उतना व्यवहार में भी उसके शत्रु मित्रपना मानना हटता जाता है। इसी स्वानुभव के अभ्यास के बल से यदि वह तद्भव मोक्षगामी है तो ग्यारहवें गुणस्थान में उसके बिल्कुल रागद्वेष नहीं रहता इसीलिए सयोग-

केवली के चारों तरफ सम्पूर्ण शान्ति विराजती है, उनके समवशरण में जातिविरोधी जीवों में भी बिल्कुल वैरभाव नहीं रहता।

वास्तव में स्वानुभव ही वह मंत्र है जिस मंत्र के प्रभाव से रागद्वेषादि सर्पों का विष उतर जाता है। सम्यग्दर्शन के होते ही चौथे गुणस्थान में स्वानुभव प्राप्त हो जाता है। क्योंकि यह वह अस्त्र है जिससे मोह शत्रु का अवश्य नाश होता है इसीलिए सम्यक्त्वी अवश्य संसार विजयी होगा—ऐसा निश्चित है। अंतरात्मा जब स्वानुभव की निर्विकल्प दशा से सविकल्प दशा में आता है तब फिर से निर्विकल्प दशा में पहुंचने के लिए वह निश्चयनय की हीं शरण लेता है। उस समय वह ऐसा विचारता है कि जब तत्त्वदृष्टि से मेरा स्वरूप वीतराग है, राग द्वेष मेरा स्वभाव नहीं है तथा किसी को अच्छा व किसी को बुरा मानना भी मेरा स्वभाव धर्म नहीं है तब इस जगत में न कोई मेरा शत्रु है और न कोई मित्र है। इस तरह परम समताभाव लाकर वह शांत हो जाता है और आत्मा के गुणों की भावना करने लगता है। भावना करते-करते उसे जब एकाग्रता होती है तब वह स्वानुभव के परम अमृतमयी स्वाद को भोगता है।

आगे की उत्थानिका—अंतरात्मा से कोई शंका करता है कि ठीक है, तुम तो अन्य किसी को अपना शत्रु या मित्र नहीं मानते हो पर अन्य कोई तो तुम्हें अपना शत्रु या मित्र अवश्य मानता होगा। और जब दूसरा कोई तुम्हें शत्रु या मित्र रूप माने तब तुम्हारे मन में भी यह विकल्प कदाचित् हो ही सकता है कि मेरा कोई शत्रु या मित्र है और ऐसी दशा में तुम निर्विकल्प नहीं हो सकते। इसके उत्तर में अंतरात्मा विचारता हुआ कहता है—

श्लोक—मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२६॥

अन्वयार्थ—(मां) मेरे आत्मस्वरूप को (अपश्यन्) नहीं देखता हुआ (अयं) यह (लोकः) लौकिक प्राणी (न मे शत्रुः) न मेरा शत्रु है (च न प्रियः) और न प्यारा है क्योंकि चर्म चक्षुओं से मेरा स्वरूप

दिख नहीं सकता और जब तक किसी वस्तु को देखा जाना नहीं जाता तब तक उससे रागद्वेषभाव नहीं हो सकता। (मां) मेरे आत्मस्वरूप को (प्रपश्यन्) देखता हुआ (अयं लोकः) यह ज्ञानी पुरुष (न मे शत्रुः) न मेरा शत्रु है (च न प्रियः) और न मित्र है क्योंकि जो आत्मस्वरूप का अनुभव करता है उसके रागादि भाव न होने से उसके भीतर शत्रु या मित्रभाव नहीं हो सकता।

भावार्थ---यहां पर भी आचार्य महाराज ने निश्चयदृष्टि को प्रधान करके कथन किया है। अंतरात्मा की अहंबुद्धि अपनी आत्मा में ही होती है, शरीरादि में नहीं और जगत के लोग अपनी चर्म चक्षुओं से आत्मा को देख नहीं सकते इसीलिए अंतरात्मा विचारता है कि मुझे अर्थात् मेरी आत्मा को न देखते हुए ये जगत के लोग न तो मेरे वैरी हो सकते हैं और न ही मित्र। ये जिस शरीर को देखकर अर्थात् जिसका हित करके मित्र एवं अहित करके शत्रु होते हैं, वह शरीर तो जड़ है और उसका बिगाड़ या सुधार कुछ भी होने से मेरा बिगाड़ या सुधार नहीं क्योंकि न तो मैं शरीर रूप हूं और न शरीर मेरा है। शरीर तो मुझसे अत्यन्त भिन्न विजातीय पदार्थ है। मै यदि शरीर को अपना मानता होता तो अपनी उस असत्य मान्यता से स्वयं क्लेशित वा हर्षित हो जाता पर जब यह अपना है ही नहीं और ऐसा ही जब मैंने इसे माना है तब इसके हित वा अहित से मेरा कुछ भी हित वा अहित नहीं हो सकता इसीलिए शरीर का शत्रु वा मित्र चाहे कोई हो भी पर मेरी आत्मा का कोई शत्रु वा मित्र नहीं हो सकता।

वह अंतरात्मा यह भी विचारता है कि यदि कोई लौकिकजन मुझे अर्थात् मेरी आत्मा को देख ले तो भी वह देखने वाला मेरी आत्मा का शत्रु वा मित्र नहीं हो सकता क्योंकि दूसरा देखने वाला भी निश्चय की दृष्टि से देखने पर ही मेरी आत्मा के स्वरूप को देख सकता है और जो कोई मेरी आत्मा का अपने असली स्वरूप में निश्चय करेगा उसके चित्त में मेरी तरफ राग द्वेष कुछ भी हो नहीं सकता है अर्थात् उस देखने वाले को क्योंकि अपनी आत्मा के समान ही मेरी भी आत्मा दिखेगी अतः वह भी मेरा

शत्रु या मित्र नहीं हो सकता। कहने का भाव यह है कि ज्ञानी पुरुष जैसे अपनी आत्मा को निश्चय से शुद्ध वीतराग देखता है वैसे ही दूसरे की आत्मा को भी शुद्ध वीतराग देखता है। वास्तव में यहाँ आत्मा शब्द का वाच्य शुद्ध आत्मा है न कि कर्मबंध से मलिन आत्मा।

इस प्रकार समझकर अंतरात्मा अपने भीतर का रागद्वेष मिटाकर समताभाव का आलम्बन लेता है। यही समता स्वानुभव का कारण है और इसी साम्यभाव से वह स्वरूप में रमण किया करता है।

आगे की उत्थानिका—अंतरात्मा के लिए आचार्य अब यह उपदेश करते हैं कि उसे बहिरात्मपने का त्याग करके परमात्मपने की प्राप्ति का उपाय इस भांति करना चाहिए—

श्लोक—त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥२७॥

अन्वयार्थ—(अंतरात्मव्यवस्थितः) अंतरात्म-अवस्था में ठहरा हुआ जीव (एवं) जिस तरह ऊपर कहा गया है उस तरह (बहिरात्मानं) बहिरात्मपने को (त्यक्त्वा) छोड़कर तथा (सर्वसंकल्पवर्जितम्) (सर्व संकल्प-विकल्पों से रहित होकर (परमात्मानं) परमात्मा को (भावयेत्) भावे अर्थात् जिसमें कोई संकल्प-विकल्प नहीं है ऐसे परमात्मा के स्वरूप का अनुभव करे।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य देव ने फिर शिक्षा दी है कि परमात्मा के समान अपनी आत्मा का जो कुछ यथार्थ स्वरूप है उसका ग्रहण कर तथा उससे भिन्न जो कुछ भावकर्म, द्रव्यकर्म तथा नोकर्म आदि हैं उनसे बुद्धि हटाकर एवं बाहर और अंतरंग के जो मन, वचन, काय सम्बन्धी विचार हैं उनका परित्याग करके अपने उस आत्म-स्वरूप का ही अनुभव करना चाहिए अर्थात् पहले उसकी भावना करके फिर उस स्वरूप में लय हो जाना चाहिए।

आगे की उत्थानिका—परमात्मा को भावना करने का क्या फल

होता है, वह कहते हैं—

श्लोक—सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन्भावनया पुनः ।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ।।२८।।

अन्वयार्थ—(तस्मिन्) उस परमात्म-स्वरूप की (भावनया) भावना के प्रताप से तथा (सोऽहम्) अनन्त ज्ञानस्वरूप से प्रसिद्ध वह जो परमात्मा है, सो ही मैं हूं (इति) इस प्रकार के अभ्यास से (आत्तसंस्कार) जिसने अपनी वासना जमा ली है वह भेदाभ्यासी तत्त्वज्ञानी पुरुष (पुनः) फिर (तत्रैव) उसी उत्कृष्ट आत्मस्वरूप में (दृढसंस्कारात्) अति निश्चल वासना के बल से (हि) प्रगटपने (आत्मनि स्थितिम्) अपने आत्मस्वरूप में निश्चलपने को (लभते) प्राप्त करता है ।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य बताते हैं कि अंतरात्मा सम्यग्दृष्टि जीव को एक बार अनात्मा से भिन्न आत्मा का स्वरूप समझ लेने पर भी गाफिल नहीं हो जाना चाहिए। उस स्वरूप को बार-बार विचारना चाहिए। 'सोऽहम्, सोऽहम्' की भावना करनी चाहिये । 'जो पवित्र आत्मा है वही मैं हूं अर्थात् मैं स्वयं परमात्मा हूं' इस तरह निश्चयनय के द्वारा भावना करते-करते जब दृढ़ संस्कार जम जाता है तब इसका श्रद्धान पक्का हो जाता है । पक्का श्रद्धान बार-बार अभ्यास के बल से ही होता है ।

'इसका क्या कारण है जो उपशम सम्यक्त्व अंतर्मुहूर्त्त तक ही रहता है' इस बात पर जब विचार किया जाता है तो यही समझ में आता है कि सम्यक्त्व होते समय आत्मस्वरूप का जैसा दृढ़ श्रद्धान होता है वह अंतर्मुहूर्तमात्र ही रहता है, पीछे अवश्य वह या तो ढीला पड़ जाता है या छूट जाता है । यदि वह श्रद्धान ढीला होता है तो जीव को क्षयोपशम सम्यक्त्व हो जाता है और यदि छूट जाता है तो वह नीचे के किसी गुण-स्थान में आ जाता है । इसीलिए फिर से सम्यक्त्व पाने को अथवा उसे इस रूप दृढ़ करने को कि क्षयोपशम से वह उस क्षायिक सम्यक्त्व रूप हो जाये जो प्रतिपक्ष मिथ्यात्व आदि प्रकृतियों के बिलकुल छूट जाने से होता है, इस मनुष्य को निरन्तर 'सोऽहं' के भाव का अभ्यास करना चाहिए । बार-

बार अभ्यास के बल से सम्यक्त्व ऐसा मजबूत हो जाता है कि वह फिर कभी छूटता नहीं, चाहे वह क्षयोपशम सम्यक्त्व हो चाहे क्षायिक। क्षयोपशम यदि छूटता भी है तो क्षायिक में बदलकर ही मिटता है।

श्रद्धान में दृढ़ता पा लेने पर आत्मरस का अनुभव करने के लिए जीव को बार-बार स्वरूप की भावना करनी चाहिए। इस भावना के दृढ़ होने पर जब उसका उपयोग निज स्वरूप की तरफ जायेगा तब वह आत्मस्वरूप में निश्चल हो जायेगा और उसे आत्मानन्द प्राप्त होगा। इस स्वानुभव को बढ़ाने के लिए ज्यों-ज्यों वह ध्यान का अभ्यास करता जायेगा त्यों-त्यों स्वरूप में निश्चल होता जायेगा और इसी कारण वह कभी साधु भी हो जायेगा। तत्पश्चात् ध्यान करते-करते सर्व मोह कर्म व उसके सहकारी कर्मों का नाश करके वह निश्चल रूप से आत्मा में ऐसा थिर हो जायेगा कि फिर कभी भी वहाँ से चलायमान नहीं होगा। यह दशा अरहन्त केवली की है जहाँ अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख व वीर्यादि गुण प्रगट हो जाते हैं। आचार्य श्री का प्रयोजन यहाँ यह बताने का है कि जो जैसी भावना करता है वह क्योंकि वैसा ही हो जाता है इसीलिए जो निर्विकार परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करेगा वह क्यों नहीं उस परमात्मपद को पहुंच जायेगा अर्थात् अवश्य पहुंचेगा। अतः आलस्य छोड़कर जिस तरह भी बने उसी तरह भेदज्ञान का अभ्यास करना चाहिए।

आगे की उत्थानिका—यहाँ पर कोई शिष्य शंका करता है कि आत्मा की भावना करने के लिए तप आदि करना होगा जिसमें परम्परा से बहुत कष्ट होगा, इस कारण ऐसा कार्य करने में भय लगता है और जब वस्तु-स्थिति ऐसी है तो फिर किसकी प्रवृत्ति इस आत्मभावना के सम्बन्ध में होगी अर्थात् ऐसे कठिन कार्य के लिए कौन उद्यम करेगा? अब इस आशंका को दूर करने के लिए आचार्य कहते हैं—

श्लोक—मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततोनान्यद्भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥२९॥

अन्वयार्थ—(मूढात्मा) बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि (यत्र) जिन स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, मित्र व शरीर आदि में (विश्वस्तः) इस रूप का विश्वास कर लेता

है कि ये मेरे हैं और मैं इनका हूं (ततः) उन शरीर, स्त्री व पुत्रादि में मोह करने के सिवाय (अन्यत्) दूसरा कोई (भयास्पदम्) इस आत्मा के लिये भय का स्थान (न) नहीं है क्योंकि इसी मोह से ही तो आत्मा संसार में दुःख उठाता है और (यतः) जिससे अर्थात् जिस परमात्मस्वरूप के अनुभव से वह (भीतः) डरता है (ततः अन्यत्) उसके सिवाय दूसरा कोई (आत्मनः) आत्मा के लिये (अभयस्थानम्) संसार के दुःखों से बचने का निर्भय उपाय (न) नहीं है।

भावार्थ--यहाँ पर आचार्य देव ने अज्ञानी भयभीत शिष्य की शंका का समाधान किया है कि आत्मानुभव के लिए उद्यम करने में उसी को भय मालूम होता है जो आत्मा के सच्चे स्वरूप को नहीं जानता है। जो तत्त्वज्ञानी होते हैं उनकी बुद्धि अज्ञानियों से विलक्षण होती है। अज्ञानी जीव जिसमें अपना भला जानता है और जिसमें विश्वास करता है उसी से ही उसको महान कष्ट भोगना पड़ता है। जिस शरीर को वह अपना मानकर विश्वास करता है और जिसके लिये न्याय-अन्याय का भी विचार न कर वर्तन करता है उससे वह घोर पाप बांध लेता है जिस पाप का फल उसे आगे भोगना पड़ेगा। जब वही शरीर कुछ रोगी होता वा बिगड़ता है तो वह महान् क्लेश में पड़ जाता है और जब शरीर मरने लगता है तब उसके चित्त की आकुलता को वही जान सकता है और इस प्रकार आर्त्तध्यान से मरकर वह खोटी गति में चला जाता है। इस तरह जो शरीर उसका विश्वासपात्र होता है उसी के कारण यह अज्ञानी प्राणी विपत्ति के स्थान में चला जाता है। इसी भांति स्त्री, पुत्र व धन आदि में जो जीव अपनेपने रूप मोह करता है और उनके रोगी होने व वियोग होने पर उनके निमित्त से महान क्लेशित होता है वह भी घोर पाप बांध महाविपत्ति के स्थान में पहुंच जाता है। मिथ्यात्वी जीव की यह दशा बड़ी शोचनीय है। आचार्य कहते हैं कि तत्त्वज्ञानी की स्थिति इससे विलक्षण होती है। वह इन शरीर, स्त्री, मित्र व पुत्र आदि से व्यवहार में काम तो लेता है परन्तु अंतरंग में न तो उनसे मोह करता है और न उन पर विश्वास ही करता है अतः यदि उनका वियोग भी हो जाता है तो

वह कुछ क्लेश नहीं उठाता। वह उनके निमित्त पाप भी नहीं करता, न्यायपूर्वक व्यवहार से ही उनकी रक्षा करता है।

आत्मा का परमहित शुद्धस्वरूप के लाभ में है। जहाँ आत्मा बिल्कुल निर्भय हो जाता है उसी को मोक्ष अवस्था कहते हैं। इसका उपाय भी जो निश्चय रत्नत्रयमयी आत्मानुभव है वह भी भय व दुःख से रहित है क्योंकि आत्मानुभव में तिष्ठा जीव परम शांति, निराकुलता तथा आनंद भोगता है। जगत के सारे दुःख स्वरूप के ध्यान से भाग जाते हैं। इस आत्मानन्द के लिए तप करने, व्रत धारने व शास्त्र मनन करने आदि रूप कार्यों में प्रवृत्त होते हुए तत्त्वज्ञानी को किसी प्रकार का कोई कष्ट न होकर उसी तरह महान् आनन्द ही प्राप्त होता है जिस तरह किसी मित्र से मिलने को जाते हुए मार्ग के कष्ट भी सुखरूप भासते हैं अथवा धन के लिए परिश्रम करना भी सुख की आशा में सुखदायी ही होता है। आत्मा का परम शरण आत्मानुभव है, यही निर्भय स्थान है। खेद है कि अज्ञानी इसी से डरता है। वास्तव में यह महामोह की ही महिमा है जिससे अज्ञानी सुखदायी को दुःखदायी तथा दुःखदायी को सुखदायी समझता है। आचार्य कहते हैं कि अज्ञानी को ही स्वरूप प्राप्ति के उद्योग में कष्ट पाने का भय होता है, ज्ञानी को नहीं। ज्ञानी तो बड़े उत्साह से श्रावक व साधु के व्रत पाल, धर्म व मोक्ष पुरुषार्थ का साधन करता है।

आगे की उत्थानिका—आत्मा की प्राप्ति जिस तरह होती है, उसका उपाय कहते है—

श्लोक-सर्वेन्द्रियाणि संयम्यस्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥३०॥

अन्वयार्थ—(सर्वेन्द्रियाणि) अपने-अपने विषयों में जाती हुई सर्व इन्द्रियों को (संयम्य) रोककर (स्तिमितेन) स्थिरीभूत (अन्तरात्मना) मन से अर्थात् अपने भीतर जो कोई आत्मा है उस तरफ अपने उपयोग को सन्मुख करते हुए (क्षणं पश्यतः) क्षण मात्र भी अनुभव करने वाले के

(यत्) जो स्वरूप (भाति) झलकता है (तत्) सो ही (परमात्मनः तत्त्वम्) परमात्मा का स्वरूप है।

भावार्थ—आत्मा ज्ञान स्वभावी है, इसका ज्ञानोपयोग ज्ञेय पदार्थों के निमित्त से कभी कहीं व कभी कहीं भ्रमण किया करता है। हम लोग मन सहित पंचेन्द्रिय जीव हैं इससे हमारा उपयोग कभी किसी इन्द्रिय, कभी किसी इन्द्रिय व कभी मन के द्वारा काम किया करता है। वह इन्द्रियों के द्वारा तो विषय को ग्रहण करता है तथा मन के द्वारा उसका विशेष स्वरूप एवं कारण-कार्य आदि का विचार करता है परन्तु काम एक समय में एक ही इन्द्रिय के द्वारा यह उपयोग कर सकता है। इन्द्रिय के द्वारा उपयोग किसी विशेष को जानता है तथा मन के द्वारा किसी विशेष का चिन्तवन करता है। अब यदि उपयोग को अपनी ही आत्मा की तरफ, जिसका ही एक परिणाम उपयोग है, जाना हो तो उसे विशेषों को छोड़कर सामान्य पर आना होगा अतः सब इन्द्रियों व मन से तो स्वयं को हटाना पड़ेगा और अपने स्वामी अथवा अपने आपकी तरफ अपने को रखना पड़ेगा सो ही यहाँ कहते हैं कि इन्द्रियों से व मन के विकल्पों से हटते हुये जिस समय अपने आपके सन्मुख उपयोग करके अपना अनुभव किया जाता है उस समय जो कुछ भीतर प्रकाशित होता है, वही परमात्मा का स्वरूप है।

परमात्मा की प्राप्ति का यही उपाय है कि इन्द्रियों को रोको, मन को स्थिर करो और अपने आपको देखो। अपने भीतर देखने पर जो कुछ दिखता है वही परमात्मा है। उसी समय स्वानुभव व स्वसंवेदन होता है और उसी समय परमानन्द की प्राप्ति होती है। कहने का प्रयोजन यही है कि अपनी आत्मा का अनुभव कुछ भी कठिन नहीं है, वह तो अपनी ही वस्तु है। निश्चय से हम स्वयं परमात्मा हैं। जब भी हम पर से हटकर अपने आप में आएंगे तब हम स्वयं परमात्मस्वरूप है ही। अनादि से हमने इन्द्रिय और मनरूपी छह झरोखों से बाहर देखने का ही अभ्यास कर रखा है। हम कभी भी उनसे बाहर देखना छोड़ते नहीं। जब भी हम जन

झरोखों से बाहर न झांककर भीतर अपने घर की तरफ देखेंगे तभी हमें स्वयं अपना स्वरूप अवश्य दिखलाई पड़ेगा।

आगे की उत्थानिका—शिष्य ने फिर प्रश्न किया कि किसकी आराधना करने से आत्मस्वरूप की प्राप्ति होगी ? अब आचार्य इसका उत्तर कहते है—

श्लोक—यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥३१॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई प्रसिद्ध (परात्मा) उत्कृष्ट आत्मा या परमात्मा है (स एव) वह ही (अहं) मैं हूं तथा (यः) जो कोई स्वसंवेदन-गोचर (अहं) मैं आत्मा हूं (सः) सो ही (परमः) परमात्मा है (ततः) इसीलिये अर्थात् जब परमात्मा और मैं एक ही हूं तब (मया) मेरे द्वारा (अहम् एव) मैं ही (उपास्यः) आराधने योग्य हूं, (कश्चित् अन्य) कोई दूसरा (न) नहीं। (इति) इस प्रकार अपने स्वरूप में ही आराध्य-आराधक भाव की (स्थितिः) व्यवस्था है।

भावार्थ—यहां आचार्य ने शिष्य के प्रश्न का यही उत्तर दिया है कि अपने स्व-स्वरूप की ही आराधना करनी चाहिये और अपने आत्म-स्वरूप के अनुभव से ही स्व-स्वरूप की प्राप्ति होती है। परमात्मपद की शक्ति अपने आप में ही है। निश्चयनय से स्वभाव व गुणों की अपेक्षा परमात्मा और संसारी आत्मा में किसी प्रकार का भेद नहीं है। इन दोनों में सत्ता की अपेक्षा तो भेद है पर स्वभाव की अपेक्षा नहीं। अपनी ही मिश्र अवस्था में से यदि औदारिक शरीर, तैजस शरीर और कार्माण शरीर को अलग कर दिया जाये तथा औपाधिक रागद्वेषादि भावों को हटा दिया जाये तो आप स्वयं परमात्मा ही है। शुद्ध निश्चयनय से अपने आपको ही परमात्म-रूप समझ कर अपने स्वरूप का ही अनुभव करना चाहिये, अन्य किसी का नहीं। अन्य की आराधना जहाँ विकल्परूप व सराग है वहाँ अपने आपकी उपासना निर्विकल्परूप तथा वीतराग है। वीतराग दशा प्राप्त करने में यही भावना कार्यकारी है। आचार्य महाराज का एक यह भी

आशय है कि पर की भक्ति कठिन होती है व परकी वस्तु पानी कठिन होती है पर अपनी ही वस्तु को आप ही अपने में पाना कोई कठिन नहीं है इसीलिये निश्चिन्त होकर पर की चिन्ता छोड़ स्व-स्वरूप की ही आराधना करनी चाहिये। समाधि-भाव पाने का मात्र एक यही उपाय है।

आगे की उत्थानिका—इसी स्व-स्वरूप की उपासना का विशेष उपाय दिखाते हैं—

श्लोक—प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्द निर्वृतम् ॥३२॥

अन्वयार्थ—(विषयेभ्यः) पंचेन्द्रियों के विषयों से (मां) अपने को (प्रच्याव्य) हटा करके (मया एव) अपने ही द्वारा अर्थात् अपने आत्मस्वरूप के ही द्वारा (मयि) अपने ही स्वरूप में (स्थितं) ठहरते हुए (बोधात्मानं) ज्ञानस्वरूप तथा (परमानन्द निर्वृतम्) उत्कृष्ट आनन्द से पूर्ण (मां) अपने स्वरूप की अवस्था को (अहं) मैं (प्रपन्नोऽस्मि) प्राप्त होता हूं।

भावार्थ—यहां पर आचार्य अंतरात्मा की स्वरूप-भावना की रीति को बता रहे हैं कि यह अंतरात्मा सम्यग्दृष्टी जीव अपने आपको अर्थात् अपने उपयोग को पांचों इंद्रियों के विषयों से अर्थात् भोग्य पदार्थों से हटा लेता है। उन पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपने की बुद्धि को वह छोड़ देता है। बाहरी पदार्थों की पर्यायों को जड़ पुद्गल की पर्यायें समझकर उनसे वह बेरुख हो जाता है अर्थात् मूल द्रव्य को ध्यान में लेकर उसकी पर्यायों से उदासीन हो जाता है। जैसे कोई जब भोजन करने में लग जाता है तब अपने दिल को और कामों से हटा लेता है अथवा अपनी प्रियतमा स्त्री से प्यार करते हुए अन्य बातों से वह अपना उपयोग फेर लेता है और अपनी स्त्री के ही भोग में लग जाता है उसी तरह तत्त्वज्ञानी जीव विचारता है कि मैं अपने आपको विषयों से हटाकर, अपने ही स्वसंवेदन के द्वारा, अपनी ही आत्मा में जब विराजमान करता हूं तब मैं ऐसी ज्ञानस्वरूप तथा परमानन्दमयी अवस्था को प्राप्त होता हूं जो

मेरा ही खास स्वरूप है। आत्मरस क्योंकि विषयरस से विलक्षण है इसीलिए जब विषयरस का स्वाद जाता है तब आत्मरस का वेदन पैदा होता है। अनादि से लिये जाने वाले जिस स्वाद से जीव को सुख, शांति व तृप्ति नहीं मिली उस स्वाद से मुख मोड़ने पर और स्व-स्वरूप के सन्मुख होने पर ही निजानन्द का अनुभव होता है और यही अनुभव परमात्मपने के विकास का बीज है।

आगे की उत्थानिका—ऊपर कहे प्रमाण आत्मा के स्वरूप को जो शरीर तथा पुद्गल के समस्त विकारों से भिन्न अनुभव नहीं करता है, उसके सम्बन्ध में कहते हैं—

श्लोक—यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः ॥३३॥

अन्वयार्थ—(यो) जो कोई विद्वान (एवम्) ऊपर कहे प्रमाण (देहात् परं) शरीरादि पर पदार्थों तथा परभावों से भिन्न (अव्ययं) अविनाशी एवं अपने ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण (आत्मानम्) आत्माको (न वेत्ति) नहीं जानता है अर्थात् अनुभव नहीं करता है (सः) वह पुरुष (परमं) बहुत तीव्र (तपः) तपस्या को अर्थात् महान् उपवासादि कायक्लेश को (तप्त्वा-अपि) तप करके भी (निर्वाणं) संसार के सर्व दुःखों से मुक्तरूप निज स्व-रूपानंदमयी निर्वाण को (न लभते) प्राप्त नहीं करता है।

भावार्थ—निर्वाण आत्मा की उस शुद्ध अवस्था को कहते हैं जहां सांसारिक अवस्था तो मिट जाती है और स्वाभाविक अवस्था प्रगट हो जाती है। जैसा कार्य हो वैसा ही उसका कारण भी होना चाहिये, जैसा साध्य हो वैसा ही साधन भी चाहिये। आत्मा का पूर्णरूप जहां साध्य है वहां आत्मा के स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान व उसमें चर्या करने रूप रत्नत्रय ही उसका साधन हो सकता है, अन्य नहीं जैसाकि स्वामी अमृत-चंद्रजी ने निम्न समयसार कलश में कहा है—

श्लोक—क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्म्मभिः,
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपो भारेण भग्नाश्चिरं।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयम्,
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमंते न हि ॥१०॥

भावार्थ—कोई मोक्षमार्ग से प्रतिकूल महाकठिन कायक्लेश आदि व्यवहार क्रियाकांडों से स्वयं कष्ट उठावे तो उठाओ अथवा कोई व्यवहार मोक्षमार्गरूप महाव्रत व तप के भार से दीर्घकाल तक पीड़ित होते हुए कष्ट उठावे तो उठाओ पर साक्षात् मोक्षरूप तो एक यही क्लेशरहित पद है जो ज्ञानस्वरूप है तथा स्वयं अनुभव में आने योग्य है और उसकी प्राप्ति कोई भी आत्मज्ञानरूपी गुण के बिना अन्य किसी भी तरह से करने में समर्थ नहीं हो सकते।

जो सम्यक्त्व रहित हैं अर्थात् आत्मानुभव को न पाते हुए उसके सच्चे श्रद्धान से बाहर हैं एवं जिनको आत्मसुख का आनंद नहीं आया है, वे पुरुष चाहे तो जैनधर्म से विरुद्ध कायक्लेश का कष्ट उठाओ और चाहे जैनधर्म के अनुकूल अट्ठाईस मूलगुण व बारह प्रकार के तप का साधन करो पर वे कभी भी आत्मा की शुद्धि को नहीं पा सकते। जैसे कोई बाहरी सामग्री कूंडा, धोंकनी व चिमटे आदि को तो इकट्ठा कर ले परन्तु अशुद्ध सुवर्ण के मैल काटने को अग्नि का जो ताप देने की जरूरत होती है उस ताप को न देवे तो अनेक कष्ट सहने पर भी उस सोने का एक अंश भी शुद्ध नहीं हो सकता वैसे ही आत्मानुभव ही वह ध्यान की अग्नि है जो कर्म मैल को हटाती है अतः इसी की विशेष आवश्यकता है। बाहरी श्रावक व मुनि की क्रिया का जो पालन है वह तो केवल मन को बाहरी आकुलताओं से हटाने के लिए है क्योंकि आरंभ परिग्रह से मन जितनी अधिक छुट्टी पायेगा उतना ही अधिक वह आत्मा के मनन में लग सकेगा इसीलिए ऐसा कहा गया है कि सम्यक्त्व के बिना व्रत, तप आदि केवल अज्ञान व्रत व अज्ञान तप है। श्री कुंदकुंदाचार्य भगवान ने समयसार जी में कहा है—

गाथा—परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणइ तवं वयं च धारेइ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥८३॥

भावार्थ-जो परमार्थ में नहीं ठहरा हुआ है और व्रत करता तथा तप धारता है उसका सब बालतप व बालव्रत है, ऐसा सर्वज्ञ भगवान कहते हैं।

मन को बाहरी प्रपंच जाल से बचाने के लिए व्यवहार चारित्र है सो भी इसीलिये कि बाहरी प्रपंचों से निवृत्त उस मन से स्वरूप का मनन किया जाये। यदि स्वरूप का मनन न हो तो सर्व ही व्यवहारचारित्र मोक्ष का साधक न होकर केवल मंद कषाय से पुण्य-बंध ही करता है जिसका फल नौ ग्रैवेयक तक गमन और फिर संसार में ही भ्रमण है इसीलिए यहाँ आचार्य देव ने कहा है कि जो आत्मज्ञान शून्य हैं वे निर्वाण नहीं पा सकते।

आगे की उत्थानिका—यहाँ शिष्य शंका करता है कि जो तपस्वी महा कठिन तप को करते है उन्हें महादुःख होता है जिससे उनके मन में खेद व आकुलता होती है अतः ऐसी दशा में उन तपस्वियों को निर्वाण की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? अब इसका आचार्य समाधान करते हैं-

श्लोक--आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥३४॥

अन्वयार्थ--(आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः) आत्मा और शरीर के भेदज्ञान से पैदा होने वाले आनन्द से भरा हुआ योगी (तपसा) बारह प्रकार तपस्या करके (घोरं दुष्कृतं) भयानक पूर्व कर्म के फलरूप महादुःख को (भुञ्जानोऽपि) भोगते हुए भी (न खिद्यते) खिन्न नहीं होता है।

भावार्थ---आचार्य कहते हैं कि तप को करते हुए खेद उसी को होता है जिसको आत्मज्ञान नहीं होता तथा जो उस आत्मज्ञान से उत्पन्न परमानन्द का स्वाद नहीं पाता। आत्मानुभव से जो परम तृप्तिकारी सुख होता है, उस सुख की प्राप्ति के लिए यदि किसी तपस्वी ने तपस्या शुरू की हो तो उसे घोर तप के तपने से भी उसी प्रकार कोई कष्ट नहीं

होता जिस प्रकार द्रव्य का लोभी धूप में नंगे पैर दस-दस कोस तक चलता हुआ भी उस बाधा की इसीलिए कुछ परवाह नहीं करता क्योंकि उसका उपयोग उस समय धन के सम्बन्ध में लालायित हो रहा है। ध्यान का अभ्यासी ध्यान के समय पहले तो यथासम्भव निराकुल स्थान में बैठकर ही ध्यान करता है जिससे वह बाहरी कष्ट नहीं भोगता और उस निराकुल स्थान में बैठे होने पर भी पूर्वपाप के उदय से कोई संकट यदि उस पर आ ही जावे तो उस संकट में वह चित्त को खेदित या मैला नहीं करता क्योंकि एक तो उसे आत्मा के अनुभव का जो रस आ रहा है उसके सामने वह विपत्ति कोई वस्तु ही नहीं है और दूसरे वह ज्ञानी उस संकट को अपने ही किए हुए कर्मों का फल जानता है तथा 'इस रूप में मेरा कर्ज चुक रहा है' ऐसा समझकर किसी प्रकार का कोई भी खेदभाव मन में नहीं लाता।

जितने भी दुःख है उनका असर शरीर पर पड़ता है और ज्ञानी ने भेदज्ञान के बल से अपने शरीर को अपनी आत्मा से भिन्न जान लिया है, मात्र इतना ही नहीं उसने तो उस आत्मा के स्वाद का भी अनुभव कर लिया है और इसी कारण वह आत्मा के स्वरूप का परम प्रेमी तथा शरीर से अत्यन्त उदास हो गया है। यदि कोई किसी से उदास हो जाता है तो उस पर कोई बिगाड़ या सुधार का मामला होने पर उससे भी वह उदास रहता है, यह नियम है इसीलिए शरीर पर कर्मोदय से आने वाली तकलीफों को ज्ञानी कुछ परवाह नहीं करता है। वह अपने स्वरूप के आनन्द में मस्त हुआ परम सन्तुष्ट रहता है इसीलिए घोर तप करते हुए भी न तो उसे दुःख ही होता है और न वह मन में खेद ही लाता है और इस प्रकार शान्ति एवं वैराग्यगर्भित आत्मानुभव के प्रताप से कर्मों की निर्जरा करता हुआ वह निर्वाण का पात्र हो जाता है।

आगे की उत्थानिका—आचार्य कहते हैं कि यदि तपस्वी को तप की क्रिया में खेद हो जाये तो उसे आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि उसका मन उस समय धर्मध्यान से छूट कर आर्तध्यान में आ जाएगा—

श्लोक--रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः ॥३५॥

अन्वयार्थ--(यन्मनोजलम्) जिसका मनरूपी जल (रागद्वेषादि कल्लोलैः) राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया व लोभादि तरंगों से (अलोलं) चंचल वा मलिन नहीं है एवं वीतरागता में स्थिर है (सः) वही योगी (आत्मनः तत्त्वं) आत्मा के यथार्थ स्वरूप को (पश्यति) देखता है अथवा अनुभव करता है एवं (सः) वही आत्मदर्शी (तत्त्वं) स्वयं तत्त्वस्वरूप है अर्थात् परमात्मा के स्वभावरूप है, (इतरः जनः न) दूसरा मनुष्य नहीं अर्थात् जो मनुष्य आत्मा की तरफ सन्मुख नहीं है, वह उस समय वर्तमान पर्याय की अपेक्षा तत्त्वरूप नहीं है ।

भावार्थ--जैसे समुद्र का जल जब पवन के द्वारा उठने वाली तरंगों से चंचल होता है तब उसमें पदार्थ निर्मलता के साथ नहीं दिखता है परन्तु जब वही जल स्थिर होता है तब उस निर्मल जल में अपना मुंह या अन्य कोई भी पदार्थ साफ-साफ दिख जाता है, वैसे ही जब यह मन राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया व लोभादि विकारी भावों से चंचल होता है तब उसमें आत्मा का स्वभाव नहीं झलकता परन्तु जब मन में राग द्वेषादि विकार नहीं होते तब उस निर्मल मन में आत्मा का जो स्वरूप है, सो बराबर दिखता है। तात्पर्य यह है कि जिनके मन में राग, द्वेष, मोह है वे आत्मा के स्वरूप को नहीं पा सकते और मोहरहित सम्यग्दृष्टि योगी अपने स्वरूप के अनुभव में ऐसे दत्तचित्त होते हैं कि बाहरी शरीर के खेदों में वे रागद्वेष नहीं करते और इसी कारण उनको किसी तरह का कोई कष्ट नहीं होता । वे आर्त्तध्यान नहीं करते और सदा धर्मध्यान में लीन रहते हुए परमानन्द का उपभोग करते है ।

आगे की उत्थानिका--जिस आत्म-तत्त्व को रागद्वेष रहित जीव देखता है, वह तत्त्व कैसा है और उसका क्या स्वरूप है, सो कहते हैं--

श्लोक--अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः ।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥३६॥

अन्वयार्थ—(अविक्षिप्तं) विक्षेप रहित अर्थात् रागादि में परिणमन नहीं करता हुआ एवं देहादि और आत्मा को एक मानने के अभिप्राय का त्याग करने से अपने स्वरूप में ही निश्चलता को प्राप्त करता हुआ (मनः) जो मन है सो (आत्मनः तत्त्वं) आत्मा का वास्तविक स्वरूप है तथा (विक्षिप्तं) ऊपर से विपरीत अर्थात् विक्षेपरूप, रागादि में परिणत हुआ एवं शरीरादि और आत्मा का भेद-ज्ञान न करता हुआ जो मन है सो (भ्रान्तिः) भ्रम है, मिथ्यात्वरूप है, आत्मा का स्वभाव नहीं है (ततः) इसीलिए (अविक्षिप्तं) अविक्षिप्त अर्थात् रागद्वेषादि रहित (तत्) मन की अवस्था को तो (धारयेत्) धारण करना चाहिए और (विक्षिप्तं) राग-द्वेष से क्षोभित मन की अवस्था का (न आश्रयेत्) आश्रय छोड़ना चाहिये।

भावार्थ—आचार्य कहते है कि वह आत्मा का स्वरूप अपने ही पास है। जो भाव-मन विचार का काम कर रहा है उससे मिथ्याबुद्धि व रागद्वेष को जब हटा दिया जाता है तब स्वयं ही विचारों एवं चिंताओं का अभाव होकर वहाँ भीतर जो कुछ झलकता है, वही आत्मा का सच्चा स्वरूप है। यही मन जब मिथ्यात्वभाव व रागद्वेष के फन्दों में उलझा होता है तब चैतन्य-स्वरूप नहीं झलकता क्योंकि वहाँ भ्रम है। इसी-लिए जो तत्त्वज्ञानी स्वानुभूति को प्राप्त करना चाहता है उसे पहले तो अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप का इस रूप श्रद्धान करना चाहिए जिससे कि उसे अपनी आत्मा सर्व भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से भिन्न प्रतीति में आने लगे और फिर पर-पदार्थों से रागद्वेष छोड़कर उसे अपने उपयोग को निज स्वरूप में जमाना चाहिये, बस उसी समय आत्मा के स्वरूप का अनुभव हो जायेगा। मन के उपयोग का आत्मा में तन्मय हो जाना ही तो आत्मा के सच्चे स्वरूप का लाभ है। जहाँ सच्चा श्रद्धान नहीं होता वहाँ मन कभी भी रागद्वेष रहित एवं निश्चल नहीं हो सकता और इसीसे वहाँ आत्मस्वरूप नहीं मिल सकता। तात्पर्य यह है कि यदि आत्मा के आनंद की भावना है तो शिष्य को अपने मन को रागद्वेष रहित करना चाहिये तथा उसे रागादि भावों में ही उलझाये नहीं रखना चाहिये।

आगे की उत्थानिका—शिष्य प्रश्न करता है कि किस तरह मन को क्षोभ तथा किस तरह अक्षोभ होता है, इसी का उत्तर आचार्य देते हैं—

श्लोक—अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः ।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ।।३७।।

अन्वयार्थ—(अविद्याभ्याससंस्कारैः) शरीर आदि को शुचि, स्थिर तथा आत्मा ही मान लेने रूप जो अविद्या एवं अज्ञान और इस अज्ञान के बार-बार होने से पैदा हुई जो वासनायें, उनके कारण तो (मनः) यह मन (अवशं) अपने वश को छोड़कर अर्थात् इन्द्रियों के आधीन होकर (क्षिप्यते) विक्षिप्त एवं रागीद्वेषी हो जाता है और (तदेव) वही मन (ज्ञान संस्कारैः) 'आत्मा शरीरादि से भिन्न है' इस प्रकार के ज्ञान के बार-बार अभ्यास से प्राप्त हुए संस्कारों के द्वारा अर्थात् भेदज्ञान के अभ्यास से (स्वतः) अपने आप ही (तत्त्वे) आत्मस्वरूप में (अवतिष्ठते) ठहर जाता है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि अभ्यास एक ऐसी चीज है जिसके कारण मन की वृत्ति नाना प्रकार की हो जाती है। अज्ञानी मिथ्यात्वी जीव को आत्मा के स्वरूप का पता नहीं होता। वह अनात्मा को ही आत्मा समझ लेता है। 'रागद्वेषरूप व शरीररूप ही आत्मा है' इस अज्ञान के अनादिकाल से होने वाले अभ्यास से उस अज्ञानी का मन शांति को नहीं भोगता और निरंतर इन्द्रिय-विषयों और कषायों के आधीन पडा रहकर इष्ट पदार्थों में राग तथा अनिष्ट में द्वेष किया करता है। मन के विक्षिप्त होने का कारण वास्तव में अज्ञान है। इसे छोड़कर जब भेद-विज्ञान का बार-बार अभ्यास किया जाता है अर्थात् ऐसा मनन किया जाता है कि 'शुद्ध चैतन्यमात्र एवं सिद्ध भगवान के समान जो कोई परम-पदार्थ है, वही मै हूं तथा मेरी चैतन्य-भूमि में होने वाले कर्मोदयजनित अनेक प्रकार के सर्व नैमित्तिक भाव ही जब मेरे स्वभाव से भिन्न हैं तब अन्य द्रव्य जिनकी सत्ता हर तरह मुझसे न्यारी है, वे तो भिन्न होंगे ही' तब पुनः पुनः इस रूप अभ्यास के बल से यह मन ज्ञानी हो जाता है और

स्वयं ही आनंददायी व शांत आत्मस्वरूप में पूर्ण विश्वास करता है और अवसर पाकर आत्मानुभव में लय हो जाता है। सम्यग्ज्ञान के बल से ही मन रागद्वेष रहित होकर आत्मा का विलास करता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी को इस भेदविज्ञान का बारम्बार अभ्यास करना चाहिए।

आगे की उत्थानिका–चित्त के विक्षिप्त होने का क्या फल होता है तथा अविक्षिप्त रहने का क्या फल होता है, इसी बात को दर्शाते हैं–

श्लोक—अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ।।३८।।

अन्वयार्थ—(यस्य चेतसः) जिसके चित्त में (विक्षेपः) राग, द्वेष, मोह का क्षोभ रहता है (तस्य) उसी के (अपमानादयः) अपमानादि भाव हुआ करते हैं अर्थात् 'मेरा मान खंड हो गया, मेरी अवज्ञा हुई, मैं दूसरों से बड़ा हूं' आदि रूप भाव एवं दूसरे को देखकर ईर्ष्या करना आदि रूप भाव हुआ करते हैं तथा (यस्य चेतसः) जिसके चित्त में (न क्षेपः) राग-द्वेषादि का क्षोभ नहीं होता है (तस्य) उसके (अपमानादयः) ये अपमानादि अशुभ भाव (न) नहीं होते हैं।

भावार्थ—यहां पर आचार्य महाराज ने यह दिखलाया है कि मन के भीतर होने वाले कुत्सित विकारों का मूलकारण जीव की अज्ञानरूप प्रवृत्ति है। जो मनुष्य इस शरीर में आत्मबुद्धि रखता है, इन्द्रियविषय-भोग को ही जो अपना सर्वस्व समझता है और संसार के प्रपंच-जालों में ही जिसके मन को विश्राम मिलता है, वह रात्रि दिन अहंकार में फंसा रहता है। अपनी जरा सी भी अवज्ञा को वह सह नहीं सकता तथा अपने सामने किसी की बढ़ती को पसन्द नहीं करता। ईर्ष्याभाव, वैरभाव तथा अन्य भोगादि की चिन्ताओं में उलझकर वह रात दिन दुःखी तथा आकुलित रहता है। यह अवस्था उस प्राणी की नहीं होती जिसके मन में रागद्वेषादि की यह अज्ञानरूप विडम्बना नहीं होती। जो पुरुष ज्ञानी होता है वह अपने मन में कषाय की तीव्रता को नहीं होने देता

तथा ज्ञान के बल से वस्तु-स्वरूप का यथार्थ विचार करता हुआ सुखी रहता है। तात्पर्य यह है कि सर्व आकुलताओं का मूल कारण अज्ञान है। इस अज्ञान के मिटते ही परिणामों में आत्मा की तरफ सन्मुखता होती है और रागद्वेषादि क्षोभ घट जाता है।

आगे की उत्थानिका—मान-अपमान आदि रागद्वेष रूप भाव जब आवें तब उनको दूर करने का क्या उपाय है, इसी को समझाते हैं—

श्लोक—यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ॥३६॥

अन्वयार्थ—(यदा) जब (तपस्विनः) किसी तपस्वी के (मोहात्) मोहनीय कर्म के उदय से (रागद्वेषौ) राग व द्वेष (प्रजायेते) उत्पन्न होवें (तदैव) उस समय उसे (स्वस्थ) बाहरी विषयों से हटकर अपने स्वरूप में स्थित (आत्मानं) आत्मा को (भावयेत्) बारम्बार भावना करनी चाहिए। ऐसा करने से वे रागद्वेष (क्षणात्) क्षणमात्र में ही (शाम्यतः) शांत हो जायेंगे।

भावार्थ—यदि कोई ऐसा निमित्त मिले जिसके कारण किसी भी तरह का कषाय भाव जग उठे और रागद्वेषरूप परिणति होने लगे तो उसी समय तत्त्वज्ञानी को चाहिए कि वह निश्चयनय की शरण ग्रहण करके आत्मा के स्वरूप को बार-बार देखे और इस रूप विचार करे कि यह आत्मा रागद्वेष रहित एवं ज्ञानानंदमयी है और जब मैं ऐसा हूं तब मुझमें ये अपमानादि के भाव क्यों होते हैं अर्थात् नहीं होने चाहियें। स्वरूप का ऐसा चिन्तवन होते ही कषाय जाती रहती है और राग-द्वेषादि नहीं रहते। जैसे अपने शरीर के द्वारा उष्णता का तीव्रता से अनुभव किये जाने पर यदि शीतल जल से भरे तालाब में हम स्नान करें तो डुबकी लगाते ही सारी गर्मी निकल जाती है और ठंडक हो जाती है वैसे ही रागद्वेष से उपयोग के आतापित होने पर 'मैं शुद्ध आत्मारूप हूं, शांत समुद्र हूं और परम सुखी हूं' ऐसा अनुभव करते ही रागद्वेष की गर्मी शांत हो जाती है और जीव निराकुल हो जाता है।

आगे की उत्थानिका—आगे कहते हैं कि रागद्वेष करने का विषय कौन है और यदि इन्हें छोड़ना हो तो रागद्वेष के विषय से विपक्ष विषय कौन है–

श्लोक–यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम् ।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ।।४०।।

भावार्थ–(यत्र काये) जिस अपने या पर के शरीर में अथवा इन्द्रियादि पदार्थों में (मुनेः) मुनि का (प्रेम) प्रेम हो (ततः) उस शरीर से या इन्द्रियादि पदार्थों से (देहिनम्) अपनी आत्मा को (बुद्ध्या) भेदज्ञान के बल से (प्रच्याव्य) हटाकर, पीछे (उत्तमे काये) उत्तम चिदानन्दमयी शरीर वाले निज आत्म-स्वरूप में उसे (तत्) अपनी आत्मा को (योजयेत्) लगाना चाहिए, जिसका यह फल होगा कि उसका (प्रेम) शरीरादि सम्बन्धी स्नेह (नश्यति) नष्ट हो जायेगा ।

भावार्थ—यहाँ पर भी आचार्य महाराज ने रागद्वेषादि हटाने का उपाय बताया है। वे कहते है कि रागद्वेषादि निराधार तो होते नहीं, उनके होने के लिए विषय होते है अर्थात् शरीर वा इन्द्रिय के किसी विषय को यह जीव इष्ट समझता है तो उस पर राग करता है तथा किसी विषय को अनिष्ट समझता है तो उस पर द्वेष करता है। इस तरह पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपने की बुद्धि से ही रागद्वेषादि होते है। इन्हें दूर करने के लिए तत्त्वज्ञानी को भेदज्ञान के बल से निज चैतन्य-स्वरूप और शरीरादि के स्वरूप का विचार करना चाहिए जिससे उसके मन में आत्मा के अनुभव के प्रति उपादेय-बुद्धि तथा शरीरादि पदार्थों के प्रति हेय-बुद्धि हो जाये। ऐसी बुद्धि को धारण करके जैसे ही वह आत्मा के सच्चे स्वरूप पर दृष्टि डालेगा और उसका अनुभव करने लगेगा वैसे ही उसका शरीरादि सम्बन्धी स्नेह नष्ट होने लगेगा। रागद्वेषादि विकारों को हटाने का यही उपाय है। तात्पर्य यह है कि आत्मदर्शन व आत्मा के अनुभव से ही जीव का परम हित होता है और सारी आकुलता मिट जाती है।

आगे की उत्थानिका—रागद्वेषादि के नष्ट हो जाने पर क्या अवस्था होती है, सो कहते हैं–

श्लोक–आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति ।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वाऽपि परमं तपः ॥४१॥

अन्वयार्थ—(आत्मविभ्रमजं) आत्मा के मिथ्याश्रद्धान से उत्पन्न हुआ अर्थात् 'अनात्मा जो शरीरादि सो ही आत्मा है' इस तरह के मिथ्याज्ञान से पैदा हुआ जो (दुःखम्) नाना प्रकार का इहलोक व परलोक सम्बन्धी क्लेश है सो (आत्मज्ञानात्) आत्मज्ञान से अर्थात् शरीरादि से आत्मस्वरूप का भेद-ज्ञान हो जाने से और आत्मस्वरूप का अनुभव करने से (प्रशाम्यति) शांत हो जाता है परन्तु जो (तत्र) उस आत्मस्वरूप में (अयताः) उद्योगी नहीं है वे (परमं) उत्कृष्ट (तपः) तप अर्थात् महा कठिन-कठिन तपस्या को (कृत्वाऽपि) करके भी (न निर्वान्ति) निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर सकते और न ही सुखी होते हैं ।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा को आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण विषयकषाय सम्बन्धी जैसी आकुलतायें होती हैं, जैसे-जैसे क्लेश विषयों की प्राप्ति के लिए वह उठाता है तथा अपनी मिथ्याबुद्धि से दुर्गति में जाकर जो-जो महान् कष्ट व दुःख भोगता है, वे सारे दुःख आत्मा का सच्चा स्वरूप जानने से व अनुभव करने से दूर हो जाते है । संसार में रहते हुए भी वह आत्मानुभवी बहुत दुःखी नहीं होता तथा पदार्थों की अटूट प्राप्ति में हर्ष और अप्राप्ति में शोक नहीं करता । इहलोक में जो कुछ उपलब्ध होता है उसको वह समताभाव से भोग लेता है तथा परलोक में भी अपने शुभभावों के प्रताप से वह साताकारी सम्बन्धों को प्राप्त हो जाता है । आत्मज्ञानी उसी मार्ग पर चलता है जो साक्षात् मोक्ष द्वीप में ले जाने वाला है और ऐसे मार्ग में जाते हुए विकट असाताकारी सम्बन्ध बहुत तुच्छ आते हैं ।

जो ऐसा कहते हैं कि दुर्धर तप के अनुष्ठान से ही मुक्ति की सिद्धि होती है और आत्मज्ञान से दुःखों का नाश नहीं हो सकता, उनके लिए आचार्य कहते हैं कि सुख की प्राप्ति व दुःखों से निवृत्ति का हेतु कायक्लेशादि दुर्धर तप नहीं किन्तु आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान तथा आत्मानुभव यदि न हो तो घोर तपस्या करने पर भी आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकती। आत्मानुभवशून्य तप मात्र कुछ पुण्यबंध का कारण तो है पर बंध-छेदक, संसारनिवारक तथा मुक्तिसाधक नहीं। तात्पर्य यही है कि जिस तरह भी बने उस तरह भेदज्ञान के बल से आत्मानुभव करना चाहिए, इसी से ही इहलोक व परलोक के सब दुःख छूट जायेंगे।

आगे की उत्थानिका—तप का साधन करते हुए बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि क्या चाहता है तथा अंतरात्मा किसलिए तप करता है, इसी बात को बताते है—

श्लोक—शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥

अन्वयार्थ—(देहे) शरीर में व तत्सम्बन्धी अनेक पदार्थों में (उत्पन्नात्ममतिः) पैदा हुई है आत्मपने की बुद्धि जिसको, ऐसा बहिरात्मा जीव तप करके (शुभं शरीरं) सुन्दर शरीर (च) और (दिव्यान् विषयान्) स्वर्ग सम्बन्धी उत्तम विषय भोगों को (अभिवाञ्छति) चाहता है किन्तु (तत्त्वज्ञानी) जिसने आत्म-स्वरूप को भली प्रकार जान लिया है ऐसा तत्त्वज्ञानी (ततः) शरीर व उससे सम्बन्धित विषय-भोगों से (च्युतिम्) छुट्टी अर्थात् मुक्ति चाहता है।

भावार्थ—यहाँ आचार्य श्री ने बहिरात्मा तथा अंतरात्मा की भावना का खुलासा किया है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव तप आदि क्रिया करता हुआ भीतर में विषय-भोगों की अभिलाषा को नहीं मिटा पाता क्योंकि उसका श्रद्धान आत्मसुख में नहीं होता किन्तु इन्द्रियों के विषयसुख में ही होता है। धर्म-साधन करते हुए वा घोर तपस्या करते हुए भी इसी

भावना को वह भीतर जगाता रहता है जिससे वह कभी भी सच्चे सुख को नहीं पाता। किन्तु जो अंतरात्मा सम्यग्दृष्टि जीव है वह वर्तमान में तो आत्मानंद की चाह और परम्परा-मुक्ति की भावना से तप आदि धर्म का अनुष्ठान करता है। जिस तप से परिणाम निराकुल होकर आत्मा के विचार तथा अनुभव में जुड़ सकें व उत्तरोत्तर शुद्ध होते चले जावें, उस तपादि के अनुष्ठान को वह बड़े ही प्रेम से संसार विषय भोगों से विरक्त-भाव रखता हुआ करता है। मिथ्याज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी की भावना में बड़ा ही अंतर है। तात्पर्य यह है कि स्व-स्वरूप के अनुभव की भावना ही परम कार्यकारी है।

आगे की उत्थानिका—मिथ्याज्ञानी जहाँ अपनी मिथ्या परिणति के कारण बंध को अवश्य प्राप्त करता है वहाँ सम्यग्ज्ञानी अपनी सम्यक् परिणति के प्रताप से बंध को न करता हुआ उल्टे कर्मों की निर्जरा करता है, यही कहते हैं—

श्लोक—परत्राहम्मतिःस्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥४३॥

अन्वयार्थ—(परत्र) पर जो शरीर व कर्मबन्ध आदि हैं उनमें (अहम्मतिः) आत्मा की बुद्धि रखने वाला बहिरात्मा (स्वस्मात्) अपने आत्मस्वरूप से (च्युतः) भ्रष्ट हुआ (असंशयम्) बिना किसी संशय के, अवश्य ही (बध्नाति) बंधन को प्राप्त करता है अर्थात् कर्मों को बांधता है जबकि (स्वस्मिन्) अपनी आत्मा के स्वरूप में (अहम्मतिः) आत्मपने की बुद्धि रखने वाला (बुधः) अन्तरात्मा ज्ञानी (परस्मात्) पर जो शरीर व कर्मबंध आदि हैं उनसे (च्युत्वा) अलग होकर (मुच्यते) मुक्त हो जाता है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य महाराज ने बंध और मोक्ष के कारणों को स्पष्ट रूप से बताया है। संसार का कारण पर को अपना मानने रूप मिथ्यात्व है। जो अपने स्वरूप के श्रद्धान से रहित है और पुद्गलकृत अवस्थाओं में अपनेपने की बुद्धि रखता है, वह अज्ञान से पर में इष्ट व

अनिष्ट बुद्धि करता हुआ और संसार में मोह करता हुआ, पाप एवं पुण्य-रूप अनिष्ट कर्मों से बंधता है, इसमें किसी प्रकार का भी संशय नहीं है। तथा जो अपने आत्मद्रव्य की पहिचान रखता है और अपनी आत्मा में ही आत्मबुद्धि करता है, वह मोक्षमार्ग में चलने वाला है। उसकी अन्तःकरण की वृत्ति अपने स्वरूप के सन्मुख होती है। वह निरंतर वैराग्यवान् रहता हुआ उदय में आये हुए कर्मों को समताभाव से भोग लेता है जिससे उसके पूर्वबद्ध कर्मों की तो निर्जरा हो जाती है तथा नवीन बंधन इतना हल्का होता है, जो नहीं के बराबर है। इसका अंत में यह फल होता है कि वह एक दिन सब कर्मो से छूटकर मुक्त हो जाता है।

आगे की उत्थानिका—बहिरात्मा जिन पदार्थों में अपनेपने की बुद्धि करता है, उन पदार्थों के सम्बन्ध में इस बुद्धि के द्वारा वह क्या माना करता है तथा अंतरात्मा जिसमें अपनेपने की बुद्धि करता है, वह इस बुद्धि से उस पदार्थ को क्या समझता है, इस बात को दिखलाते हैं–

श्लोक–दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिंगमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥४४॥

अन्वयार्थ—(मूढः) मूर्ख अज्ञानी प्राणी (इदं) इस (दृश्यमानं) दिखलाई देने वाले मनुष्यों के (त्रिलिंगम्) तीन लिंगरूप अर्थात् स्त्री, पुरुष व नपुंसकरूप शरीरादि के कारण आत्मा को वैसा ही (अवबुध्यते) मान लेता है अर्थात् अज्ञानी जीव को भिन्न आत्मा की प्रतीति नहीं है, इससे शरीर को आत्मा मानने से उस आत्मा को ही स्त्री, पुरुष, नपुंसक देखता हुआ वह वैसा ही व्यवहार करता है (तु) किन्तु (अवबुद्धः) ज्ञानी अंतरात्मा (इदं) इस आत्मतत्त्व को (निष्पन्नम्) परिपूर्ण अर्थात् अपने गुणों से पूर्ण, अनादि से सिद्धस्वरूप तथा (शब्दवर्जितम्) शब्द की कल्पना से रहित (इति) मानता है।

भावार्थ–अज्ञानी की दृष्टि एकदम पर की तरफ झुकी हुई है। उसे आत्मस्वरूप का बिलकुल भी श्रद्धान नहीं है। वह बाहरी जगत को

ही क्योंकि सब कुछ सच्चता है इससे जो पुरुष दिखता है उसे पुरुष, जो स्त्री दिखती है उसे स्त्री व जो नपुंसक दिखता है उसे नपुंसक देखता है अर्थात् पदार्थों की जो कुछ बाहरी अशुद्ध अवस्था है, उसी को वह असली वस्तु मानलेता है। उसे शुद्ध आत्मस्वरूप का पता नहीं है। उसकी दृष्टि मूढ़ है अथवा सर्वथा अशुद्ध व्यवहार की ओर झुकी हुई है, इसी से उसको इष्ट-वियोग व अनिष्टसंयोग का महान् कष्ट होता है। उसका इहलोक भी दुःखदायी होता है और परलोक भी अशुभ होता है।

जिसने अंतरात्म-बुद्धि पा ली है, वह पदार्थों को निश्चय-द्रव्यदृष्टि से देखता है। इस दृष्टि में उसे अपना आत्मा त्रिकाल अबाधित, अनंत-गुणपर्यायमय, एकरूप, सर्व औपाधिक भावों से शून्य, अनादि-अनंत, परम प्रतापी, सर्व विकल्पों से रहित, परमशुद्ध, परमज्ञानी, परमवीतरागी और सिद्ध सम दिखता है। इसी तरह वह पुद्गलद्रव्य को भी अपने स्वरूप में देखता है। उसकी अनेक घट-पट आदि अवस्थायें उसकी बुद्धि से निकल जाती हैं। उसे जैसे आत्मा निरापन्न और विकल्प रहित दिखता है वैसे ही पुद्गल तथा अन्य सर्व ही द्रव्य दिखते है। इस तरह शुद्ध निर्मल दृष्टि के प्रताप से यथार्थ आत्मा को देखता हुआ और 'मैं स्वयं परमात्म-स्वरूप हूं' इस भाव में लीन होता हुआ वह स्वयं परमात्मा हो जाता है। ऐसा नियम है कि जो जैसा भाव करता है वह वैसा ही हो जाता है जैसाकि श्री नागसेन मुनि ने 'तत्वानुशासन' ग्रंथ में कहा है—

श्लोक—परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।
अर्हन्ध्यानाविष्टो भावार्हः स्यात्स्वयं तस्मात् ॥१९०॥

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥१९१॥

भावार्थ—जिस भाव से आत्मा परिणमन करता है, उस भाव से वह तन्मय हो जाता है इसीलिए अर्हंत के ध्यान में लगा हुआ आत्मा स्वयं भाव अर्हंत हो जाता है। आत्मज्ञानी जिस भी भाव से जिस रूप आत्मा

को ध्याता है उसी से वह वैसे ही तन्मय हो जाता है जैसे स्फटिकमणि में जैसी उपाधि लगती है वैसी लाल या हरी आदि रूप वह परिणमन कर जाती है।

तात्पर्य यह है कि द्रव्यदृष्टि से पदार्थ का अनुभव करने पर ज्ञानी को सब ही पदार्थ अपने में तन्मय दिखते है अतः वह निज आत्मा का ग्रहण कर स्वस्थ हो जाता है और मोक्षद्वीप के मार्ग में चलने लगता है।

आगे की उत्थानिका—यहां शिष्य शंका करता है कि जब अंतरात्मा आत्मा को भली प्रकार जानता है तब उसके पुनः इस प्रकार का एकत्वपने का भ्रम क्यों हो जाता है, जिससे वह अपने को ऐसा मानने लगता है कि 'मैं पुरुष हूं, मैं गोरा हूं' इत्यादि? इस शंका का समाधान आचार्य करते है—

श्लोक—जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्व विभ्रमसंस्काराद् भ्रांति भूयोऽपि गच्छति ॥४५॥

अन्वयार्थ—(आत्मनः) आत्मा का (तत्त्वं) यथार्थस्वरूप (जानन् अपि) जानते हुए भी तथा उसे (विविक्तं) शरीरादि सर्व पुद्गल द्रव्यों और उनकी अनेक अवस्थाओं से भिन्न (भावयन् अपि) भावते हुए भी (पूर्व विभ्रम् संस्कारात्) पूर्व में अर्थात् मिथ्यात्व अवस्था में अनुभव किये हुए मिथ्याश्रद्धान की वासना के प्रभाव से वह अंतरात्मा (भूयोऽपि) फिर भी (भ्रान्ति गच्छति) भ्रांति में पड़ जाता है।

भावार्थ—अनादि काल का जो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव है उसको सबसे पहले उपशम सम्यक्त्व होता है, जिसकी स्थिति अंतर्मुहूर्त्त की है। उसके पीछे यदि मिथ्यात्व का उदय आ जावे तो वह अंतरात्मा फिर बहिरात्मा हो जाता है और उसका श्रद्धान गिर जाता है। इसका कारण यही है कि उसका पूर्व का संस्कार अभी मिटा नहीं है। कुछ काल के लिए वह दब गया था सो फिर प्रगट हो गया है। इस बात को कहने का अभि-

भाव यह है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति जिन बाहरी कारणों से होती है, उनका साधन कभी छोड़ना न चाहिए। जब तक सम्यक्त्व दृढ़ न हो जाये तब तक उसके साधनों का अवलम्बन रखना चाहिए। सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाह्य कारण शास्त्र व उपदेश द्वारा तत्त्व विचार करना, ध्यानाकार मूर्ति के द्वारा शुद्ध भाव की भक्ति करके कषाय मंद करना, भाव में आत्मानुभव की दशा को जताना तथा एकांत में बैठ कर स्व-पर के स्वरूप का मनन करना है। एक बार श्रद्धान हो जाने पर भी इन बाहरी कारणों को यदि न छोड़ा जायेगा तो सम्यक्त्व यदि छूट भी गया होगा तो पुनः उसका लाभ हो जायेगा। इस तरह दृढ़ श्रद्धान होने तक सतत सम्यक्त्व के कारणों का सेवन करना चाहिए, प्रमादी नहीं होना चाहिए।

आगे की उत्थानिका—उपरोक्त प्रकार यदि फिर से भ्रांति हो जाये तो उसे किस तरह छोड़े, इसका उपाय बताते हैं—

श्लोक—अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥४६॥

अन्वयार्थ—(इदं दृश्यं) शरीरादि जो वस्तुएं देखने में अर्थात् इंद्रियों से ग्रहण करने में आ रही है, सो सब (अचेतनं) जड़ हैं। इन पर यदि क्रोध वा संतोष किया जाये तो ये कुछ समझ नहीं सकतीं क्योंकि इनमें चेतनपना नहीं है और (चेतनं) चेतनस्वरूप जो आत्मा का स्वभाव है सो (अदृश्यं) इन्द्रियों के द्वारा देखने वा ग्रहण करने में आता नहीं (ततः) अतः जैसे शरीरादि जड़ होने से क्रोध वा हर्ष के पात्र नहीं हैं वैसे ही यह आत्म-स्वरूप भी जो कि चेतन है, मेरे क्रोध वा हर्ष का स्थान नहीं हो सकता क्योंकि वह दिखाई ही नहीं पड़ता और अदृश्य पर क्रोधादि कैसे किया जाय। इसीलिए तत्वज्ञानी को विचार करना चाहिए कि मैं (क्व) किस पर (रुष्यामि) क्रोध करूं व (क्व) किस पर (तुष्यामि) संतोष करूं? (अतः) अतः क्रोध व संतोष का जब कोई विषय ही नहीं है तब (अहं) मैं (मध्यस्थः) मध्यस्थ अर्थात् उदासीन, वीतरागी (भवामि) रहता हूं।

भावार्थ--यहां पर आचार्य पुनः भ्रांति को प्राप्त अंतरात्मा को समझाते हैं कि यदि तेरे दिल में पर-वस्तु में आसक्ति होकर किसी पर क्रोध वा मोह पैदा हो जाये तो तू इस तरह की भावना करना कि द्रव्यदृष्टि से जो-जो जड़ मूर्तिक है, वही इन्द्रियों का विषय हो सकता है और किसी तरह की कोई भी क्रिया उसके भीतर विकार नहीं कर सकती क्योंकि जड़ कुछ समझता ही नहीं। और द्रव्यदृष्टि से जो चेतन दिखता है, वह क्योंकि इंद्रियों का विषय नहीं है अतः उस पर क्रोध वा संतोष हो ही नहीं सकता और फिर भी यदि मै उस पर क्रोधादि करूं तो भी उसमें, क्योंकि वह द्रव्यदृष्टि से अखंड शुद्धस्वभावमय है, विकार नहीं हो सकता। द्रव्यार्थिक-नय से देखते हुए चेतन अपने स्वभाव में और जड़ अपने स्वभाव में दिखते हैं तथा मैं भी स्वयं को अपने स्वभाव में ही देखता हूं। जब मैं और पर-सर्व ही आत्माएं शुद्ध व बराबर एक सी दिख रही है, न कोई शत्रु है और न कोई मित्र, सर्वही आत्मा सम हैं तो फिर वहां क्रोध वा हर्ष का काम ही नहीं रहता। इसीलिए मैं सबसे मोह छोड़कर परम उदासीन तथा ज्ञाता-दृष्टा रहता हूं एवं अपने स्वभाव में ही जमे रह कर परम सुख-शांति का विलास करता हूं। परमात्मा जैसे समदर्शी, वीतरागी तथा ज्ञानमय है और सब कुछ जानता देखता हुआ भी किसी पर राग-द्वेष नहीं करता वैसे ही मैं भी रहता हूं और इसी कारण परमात्मा को जैसा परमानन्द का अनुभव होता है वैसा ही मुझे भी होता है।

आगे की उत्थानिका--आगे बताते हैं कि मिथ्यादृष्टि किस वस्तु को त्यागता तथा ग्रहण करता है और अंतरात्मा सम्यग्दृष्टि किस वस्तु को त्यागता व ग्रहण करता है---

श्लोक—त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥४७॥

अन्वयार्थ---(मूढः) मूर्ख मिथ्यादृष्टि (बहिः) बाहरी पदार्थों में (त्यागादाने) त्याग और ग्रहण करता है अर्थात् जिन पदार्थों को वह अनिष्ट समझकर बुरा जानता है, उन पर तो द्वेष करके उन्हें छोड़ देता है और

जिनको इष्ट समझकर अच्छा जानता है, उन पर राग करके उन्हें ग्रहण कर लेता है पर (आत्मवित्) आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि (अध्यात्मम्) अपने भीतर (त्यागादाने) त्याग और ग्रहण (करोति) करता है अर्थात् रागद्वेषादि विभावों व अंतरंग, बहिरंग विकल्पों को तो वह त्यागता है और अपने चिदानन्दमयी स्वभाव को ग्रहण करता है और (निष्ठितात्मनः) कृतकृत्य आत्मा के (अन्तर्बहिः) अन्तरंग या बहिरंग (न उपादानं) न तो कुछ ग्रहण ही होता है और (न त्यागः) न कुछ त्याग ही होता है।

भावार्थ--यहां पर आचार्य महाराज ने बहिरात्मा, सविकल्प अंतरात्मा और निर्विकल्प अंतरात्मा की अवस्थाएं बताई है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा के अंतरंग में विषय-भोग करने की वासना होती है अतः जिन-जिन पदार्थों के संयोग से अपने इस प्रयोजन के सिद्ध होने में उसे मदद मिलती है, उनका तो वह ग्रहण कर लेता है और जिन-जिन पदार्थों से बाधा पड़ती दिखाई देती है, उन्हें त्याग देता है। कभी-कभी अज्ञानी जीव मोक्ष अवस्था में कभी भी खंडित न होने वाले अनंत सुख की वांछा कर लेता है, जिसमें उसके भीतर यह भाव होता है कि इन्द्रिय-सुख की जाति का ही यह सुख है पर संसार में यह बहुत थोड़ा प्राप्त होता है किन्तु मोक्ष में पूर्ण मिल जाता है। इसी लोभ से वह घरबार परिग्रह को छोड़ देता है और महाकठिन मुनिव्रत का संयम पालने लग जाता है पर उसका यह त्याग व ग्रहण केवल अज्ञानरूप ही है।

दूसरा सविकल्प अंतरात्मा अपने भीतर होने वाले रागद्वेषादि विकारी भावों को व अन्य संकल्प-विकल्पों को आत्मानुभव में बाधक जान त्यागता है और चिदानन्दमयी एक निज-आत्मा के स्वभाव को ग्रहण करता है। उसका यह त्याग व ग्रहण ज्ञानरूप है। तीसरा निर्विकल्प अंतरात्मा स्वानुभव में लवलीन है। वह स्वरूप में ऐसा तन्मय है कि उसे यह विकल्प ही नहीं उठता कि मैं कुछ ग्रहण करूं या त्यागूं। वह तो स्वरूपासक्त हो रहा है अर्थात् स्वस्वाद को भोग रहा है। अथवा इस दशा में हम परमात्मा को भी ले सकते है। परमात्मा ग्रहण-त्याग के झगड़े से बाहर है क्योंकि वह कृतकृत्य हो गया है।

आग की उत्थानिका—आगे कहते हैं कि सविकल्प अन्तरात्मा अन्तरंग में किस तरह त्याग व ग्रहण करे—

श्लोक—युंजीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत् ।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥४८॥

अन्वयार्थ—(मनसा) मन से (आत्मानं) आत्मा का (युंजीत) सम्बन्ध करे अर्थात् चित्त को आत्मा के स्वरूप में एकाग्र करे तथा अपनी आत्मा को (वाक्कायाभ्यां) वचन और कायसे (वियोजयेत्) अलग करे अर्थात् उस मानस उपयोग के साथ जो कि वास्तव में आत्मा का ज्ञानोपयोग है, आत्मा का अभेद समझे और शरीर व वचन से आत्मा का बिल्कुल भेद है इससे उनसे आत्मा का भेद समझे (तु) और (वाक्काययोजितम्) वचन तथा काय से किये हुए (व्यवहारं) व्यवहार को (मनसा) मन से (त्यजेत्) छोड़ देवे अर्थात् वचन व काय से जो कुछ प्रवृत्ति वा निवृत्तिरूप क्रिया बिना आसक्त-बुद्धि के करनी पड़े उनमें उदास रहकर मन से उनकी चिंता न करे ।

भावार्थ—मन से आत्मा के गुणों का विचारकर अंतरात्मा मन के उपयोग को निज स्वरूप में जोड़ देता है अर्थात् मन के उपयोग द्वारा चिदानन्दमयी शुद्धस्वरूप का ग्रहण कर लेता है और उस उपयोग को सम्पूर्ण वचन व काय की प्रवृत्ति से हटा लेता है, यही उसका त्याग और ग्रहण है और यदि कुछ काम करना भी पड़े तो उसमें वह मन को आसक्त नहीं करता । यहां ज्ञानी सम्यग्दृष्टि की दो दशाओं का वर्णन किया गया है। एक तो उसकी वह दशा होती है जब वह स्वानुभव में तल्लीन होता है । उस समय मन को तो वह स्वरूप में जोड़ देता है और वचन व काय की प्रवृत्ति को रोक देता है । यह बिल्कुल ध्यान की दशा है । दूसरे जब उसकी ध्यान की दशा नहीं होती है तब भी उसकी बुद्धि अपने स्वरूप ही की तरफ आसक्त रहती है । वह प्रयोजनवश वचन और काय से सब क्रियायें करता तो है पर दृष्टि अपने स्वरूप ही की तरफ रखता है । जैसे किसी दुकान का मुनीम दुकान का सब कामकाज मालिक की रीति से

करता हुआ भी अपने मन में अपने को मालिक नहीं समझता, मन में वह दुकान के हानि लाभ से बिल्कुल उदास ही रहता है वैसे ही सम्यग्दृष्टि कषाय के उदय से गृहस्थ व साधु के व्यवहार धर्म को साधता है पर भीतर से अपने स्वरूप का ही प्रेमी है और इसी कारण वह सब कुछ करता हुआ भी अकर्त्ता व भोगता हुआ भी अभोक्ता कहलाता है। ऐसा ही श्री पूज्यपाद स्वामी ने 'इष्टोपदेश' ग्रंथ में कहा है---

श्लोक—ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥४१॥

भावार्थ—जिस महात्मा ने स्वयं में आत्मतत्त्व की दृढ़ प्रतीति प्राप्त कर ली है वह संस्कार के वश से वा कर्म के उदय से वा पर के निमित्त से बोलता हुआ भी नहीं बोलता है, चलता हुआ भी नहीं चलता है तथा देखता हुआ भी नहीं देखता है (क्योंकि इन बाहरी कार्यों में उसकी हार्दिक रुचि नहीं है।)

जिस तरह रोगी रोग शांति के लिए बिना रुचि के कड़वी दवा पीता है उसी तरह तत्त्वज्ञानी बिना रुचि के, वचन व काय से लोक-व्यवहार तो करता है पर उसमें तन्मय नहीं होता और यही कारण है कि जिससे वचन व काय की क्रिया दुःखरूप होने पर भी उनको पर जान वह क्लेशित नहीं होता। भावार्थ यह है कि सम्यग्दृष्टि स्त्री-पुत्रादिकों के साथ वचन व काय से व्यवहार करते हुए भी उन्हें अपना नहीं जानता।

आगे की उत्थानिका—अब शिष्य प्रश्न करता है कि पुत्र व स्त्री आदि के साथ वचन व काय से व्यवहार करते हुए तो सुख की प्राप्ति होती है, तब इस व्यवहार का त्याग करना क्यों ठीक है? इसका समाधान आचार्य करते हैं—

श्लोक--जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥४९॥

अन्वयार्थ-(देहात्मदृष्टीनां) देह को आत्मा मानने वाले बहिरात्माओं को (जगत्) यह जगत अर्थात् पुत्र, स्त्री, मित्र, महल, धन, वस्त्र, आभूषण, बाग, तालाब व समुद्र आदि पदार्थ (विश्वास्यं) विश्वास के योग्य अर्थात् 'ये हमारे और हम इनके', इस रूप तथा (रम्यम्) रमणीक व मनोरंजक (एव) ही मालूम होते हैं (च) परन्तु (स्वात्मनि एव) अपनी आत्मा के स्वरूप में ही (आत्मदृष्टीनां) आत्मा को देखने वाले अन्तरात्माओं को इन पदार्थों पर (क्व विश्वासः) कैसा विश्वास (वा) अथवा (क्व रतिः) कैसी प्रीति ?

भावार्थ--आचार्य शिष्य की शंका को मेटते हुए कहते है कि जो प्राणी मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है अर्थात् जिन्हें आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान नहीं है तथा जो इस जन्म को ही सब कुछ मानकर इन्द्रियों के विषय-भोगों में आसक्त हैं, उन्हे ही स्त्री, पुरुष, पुत्र व धनादि के संयोग में सुख भासता है। उनका ही इन पर-पदार्थों पर इस रूप का विश्वास होता है कि ये मेरे उपकारी है, मैं इनका उपकारी हूं, इनके रहने से ही मेरे जीवन का आनन्द है और इनके बिना मेरा जीवन शून्य है तथा उन बहिरात्माओं को ही ये पर चेतन व अचेतन पदार्थ बहुत ही रमणीक, प्यारे और दिल के लुभाने वाले मालूम होते है। वे अज्ञानी इन पदार्थों के मोह में बिल्कुल गाफिल हो जाते है और इनके लिये न्याय, अन्याय, हिंसा, दया, सत्य, असत्य, शील, कुशील आदि का कुछ भी विवेक न करके जिस तरह भी अपनी विषय-वासना सधे, उसी तरह वर्तन करते है और जब इस उद्देश्य की सफलता के कारण मिलाने में विघ्न-बाधाएं आती है तथा वे पदार्थ बिगड़ जाते अथवा नष्ट हो जाते है तब वे अज्ञानी बड़ा भारी दुःख व शोक करते हैं।

अंतरात्माओं की दशा बहिरात्माओं से विलक्षण है। आचार्य कहते हैं कि परमार्थ की दृष्टि से जो अपनी आत्मा को सिद्धसम शुद्ध व ज्ञानानन्दमय देखने वाले हैं और जिन्होंने अपने आप में ही स्वाधीन अतीन्द्रिय सुख का विश्वास कर लिया है, उन्हें जगत में अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप के सिवाय अन्य कोई अपना विश्वासपात्र नहीं दिखता। उन्हें यह झलकता

है कि मेरा आत्मा ही मेरा है क्योंकि इसका मुझसे कभी वियोग नहीं हो सकता और मेरे सिवाय अन्य जो भी पदार्थ हैं, वे सब पर हैं। उन पदार्थों का परिणमन भिन्न है, मेरा परिणमन भिन्न है। मैं कितना भी चाहूं कि स्त्री, पुत्र, मित्र व धनादि मेरी इच्छानुसार परिणमन करें एवं इनका मुझसे कभी वियोग न हो पर यह मेरी शक्ति से बाहर है इसीलिए अपने आपके सिवाय अन्य कोई विश्वास के योग्य नहीं है। इसी तरह ज्ञानी विचारता है कि 'संसार में यदि सुन्दरता है तो अपनी इस आत्मा में ही है। जगत के सर्व पदार्थ अपनी-अपनी पर्यायों को लिये हुए हैं तथा जितने भी पुद्गल हैं, उनमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि गुण हैं जिनकी हानि-वृद्धि से उनकी नाना प्रकार की अवस्थाएं होती हैं। रागी जीव अपने ही कल्पनारूप विचार से किसी पदार्थ की किसी अवस्था को इष्ट तथा किसी को अनिष्ट मान लेता है। जगत के पदार्थ न तो इष्ट ही हैं और न अनिष्ट अतः उस जड़, अचेतन में सुन्दरता भी नहीं है। सुन्दरता तो मेरे उस निज स्वभाव में ही है जो सदा शुद्ध, आनन्दरूप, निर्विकार और सबसे श्रेष्ठ है।'

तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञानी अपनी आत्मा के सिवाय अन्य किसी पदार्थ को न तो श्रेष्ठ समझता है और न किसी को विश्वासयोग्य व रमणीक ही जानता है पर विषय वासना का प्रेरा हुआ अज्ञानी मिथ्यात्वी जीव अपने विषयों में सहकारी पदार्थों को रम्य व असहकारी पदार्थों को अरम्य देखता है।

आगे की उत्थानिका—आगे शिष्य शंका करता है कि आत्मज्ञानी जीव का विश्वास व प्रेम जब देहादि बाहरी पदार्थों पर नहीं होता तो भोजन करने, आजीविका-साधन का आरम्भ करने, उपदेश करने, विहार-निहार आदि कर्म करने व शिष्यों को सुमार्ग पर चलने की प्रेरणा करने आदि कार्यों में उस तत्त्वज्ञानी की कैसे प्रवृत्ति होती होगी ? अब इसी का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं—

श्लोक—आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

अन्वयार्थ—तत्त्वज्ञानी (आत्मज्ञानात्) आत्मज्ञान व आत्मानुभव के सिवाय (परं कार्यं) दूसरे कार्य को (अर्थवशात्) अपने या दूसरे के उपकाररूप प्रयोजन के होने पर (अतत्परः) उसमें लीन व आसक्त न होता हुआ (वाक्कायाभ्याम्) वचन और काय से (किंचित्) कुछ (कुर्यात्) करे, तो करे पर उसे (बुद्धौ) अपनी बुद्धि में (चिरम्) बहुत काल तक (न धारयेत्) नहीं रक्खे अर्थात् आत्मज्ञान के कार्य पर तो बराबर लक्ष्य रक्खे पर अन्य कार्यों को करके भूल जावे।

भावार्थ—शिष्य की शंका को दूर करते हुए आचार्य कहते हैं कि तत्त्वज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव चाहे मुनिपद में हो अथवा गृहस्थपद में, वह अपने आत्मस्वरूप व उसमें विद्यमान निराकुल सुख और शांति में ही अटल विश्वास रखता हुआ निरन्तर आत्मानुभव की ही रुचि और उसी की भावना करता है तथा अन्य कार्यों में आसक्त-बुद्धि नहीं करता। मन में वह स्वरूप का ही प्रेम रखता है और आत्मकार्य के सिवाय अन्य शरीर की रक्षा आदि दूसरे कार्यों को वह बुद्धि में नहीं जमाता अर्थात् प्रयोजनवश अपनी पदवी के अनुकूल घर का बा बाहर का जो कुछ आरम्भ करता है उनमें वचन और काय को तो लगाता है परन्तु मन को लवलीन नहीं करता और यही कारण है कि आत्मकार्य के सिवाय अन्य कार्यों को तो करके वह तुरंत भुला देता है पर आत्मकल्याण की स्मृति अ ाने अन्तःकरण में सदा जागृत रखता है। श्री पूज्यपाद स्वामी ने 'इष्टोपदेश' ग्रंथ में भी ऐसा ही कहा है—

श्लोक—निशामयति निःशेषमिंद्रजालोपमं जगत्।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥३९॥

भावार्थ—तत्त्वज्ञानी इस सर्व जगत् को इन्द्रजाल के समान देखता है और आत्म-लाभ की चाहना रखता है एवं आत्मकार्य के सिवाय अन्य कार्य में यदि अपने वचन व काय को वह ले भी जाता है तो शीघ्र ही उन्हें वहाँ से हटाकर फिर मन में पश्चात्ताप करता है कि मैं क्यों अनात्मा में चला गया।

तत्वज्ञानी की दशा उस बालक के समान है जिसका मन खेल में रमा हुआ है। वह माता-पिता की प्रेरणा से विद्या पढ़ने को जाता तो है तथा वहाँ पाठ भी पढ़ता है और उसे याद भी करता है पर उसका चित्त खेल में ही रहता है और इसी कारण जब भी वह पढ़ने से छुट्टी पाता है तभी खेल की तरफ दौड़ जाता है। इसी तरह सम्यग्दृष्टि का चित्त आत्मानुभव में रमा करता है। अपने पद के अनुसार आवश्यकता से प्रेरित होकर वचन व काय को अन्य कामों में वह ले तो जाता है परन्तु उसकी भावना स्वरूप के अनुभव की ही रहती है और यही कारण है कि जब भी वह अन्य कार्यों से छुट्टी पाता है तभी स्वरूप के अनुभव व विचार में ही लय हो जाता है।

आगे की उत्थानिका—आचार्य कहते हैं कि अंतरात्मा शरीरादि का काम करते हुए भी बुद्धि में आत्मज्ञान को जागृत रखता है और जब शरीरादि के कामों से वह निवृत्त होता है तब आत्मज्ञान में विशेष उद्यमशील होता हुआ अंतरंग में इस भांति विचार करता है—

श्लोक--यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥५१॥

अन्वयार्थ—(यत्) मै जिन शरीरादि बाहरी पदार्थों को (इंद्रियैः) इंद्रियों के द्वारा (पश्यामि) देखता हूं (तत्) सो (मे) मेरा स्वरूप (नास्ति) नहीं है तथा (नियतेन्द्रियः) इन्द्रियों को जीत कर जितेन्द्रिय होकर (यत्) जिस (सानन्दं) अतीन्द्रिय आनन्दरूप (उत्तमम्) उत्कृष्ट (ज्योतिः) आत्मज्योति को (अन्तः) अपने भीतर (पश्यामि) देखता हूं, अनुभव करता हूं (तत्) सो ही (अस्तु) मेरा स्वरूप होवे।

भावार्थ—अंतरात्मा फिर विचार करता है कि मेरा स्वरूप तो ज्ञानदर्शनमयी, परम वीतराग, आनन्दमयी एवं अमूर्तिक है तथा उसी का अनुभव करने से ही परम शांति प्राप्त होती है। अपने स्वरूप के कार्य से विरुद्ध शरीर व कुटुम्बादि के लिए जो कुछ कार्य किया जाता है

सो मेरे स्वरूप-ग्राचरण से विपरीत कार्य है। जिन-जिन पदार्थों से मुझे संसार में राग द्वेष होता है, वे सब इन्द्रियों के द्वारा दिखने वाले हैं और पांचों इंद्रियाँ क्योंकि उन स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दमात्र को ग्रहण करने वाली हैं जो कि मेरे अमूर्तिक स्वभाव से अत्यन्त भिन्न पुद्गल अचेतन द्रव्य के गुण और पर्याय हैं इसीलिए जो उनका कार्य है सो मेरा कार्य नहीं है। मेरा स्वरूप तो अचेतन जड़ पदार्थों और उनके गुण पर्यायों से बिल्कुल भिन्न है। जब मैं इन्द्रियों से अपने उपयोग को संकुचित कर भीतर देखता हूं तो वहाँ उस एक परम-ज्योति का दर्शन पाता हूं जो परमानन्द से पूर्ण है। इस दर्शन में जो कुछ अनुभव में आता है वही मेरा निज स्वरूप है और उस अपने स्वरूप में बुद्धि रखना ही परम उपादेय है।

आगे की उत्थानिका—'आत्मा की परम ज्योति जब आनन्द से पूर्ण है तब इन्द्रियों को रोककर आत्मा का अनुभव करने पर दुःख क्यों होना चाहिए ?' ऐसी शिष्य की शंका का निरास आचार्य करते हैं—

श्लोक—सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥५२॥

अन्वयार्थ—(आरब्धयोगस्य) जिसने आत्मध्यान का अभ्यास प्रारंभ किया है अर्थात् जो पहली बार निज स्वरूप की भावना का उद्यम कर रहा है उसे (बहिः) अपने स्वरूप से बाहर अन्य विषयों में तो (सुखं) सुख मालूम होता है और (अथ) खेद है कि (आत्मनि) अपने आत्मस्वरूप के मनन में (दुःखम्) कष्ट होता है परन्तु (भावितात्मनः) जिसने अपनी आत्मा की सतत भावना करके यथावत् निज स्वरूप का अभ्यास कर लिया है उसे (बहिः एव) आत्मा से बाहर के विषयों में (असुखं) दुःख तथा (अध्यात्मं) निज चैतन्य-स्वरूप में ही (सुखं) सुख मालूम होता है।

भावार्थ—शिष्य की शंका का आचार्य समाधान करते हैं कि जो आत्मस्वरूप की भावना का प्रारंभ करने वाला है उसे अपनी आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव जब तक नहीं होता तब तक आत्म-

विचार में तो कष्ट और आहार, विहार, व्यापार, वार्त्तालाप एवं विषय-भोग आदि अन्य कार्यों में जिनका कि उसे चिरकाल से अभ्यास पड़ा हुआ है, सुख मालूम होता है। परन्तु जिस जीव को आत्म-स्वरूप की भावना करके एक बार भी आध्यात्मिक सुख का स्वाद मिल गया है, उसकी रुचि फिर आत्मा से बाहर अन्य समस्त आहार आदि के विषयों से हट जाती है इसीलिए निज आत्मा के अनुभव में तो उसे आनन्द भासता है और उससे बाहर रहने में कष्ट होता है। यह नियम ही है कि किसी को जब तक अमृतमयी जल का स्वाद नहीं आता तब तक ही वह खारी व फीके जल के स्वाद से संतुष्ट रहता है पर अमृतमयी जल का स्वाद यदि एक बार भी आ जाये तो उसकी रुचि फीके जल से हट जाती है। इसी तरह अमृतमयी जल के स्वाद के न मिलने तक ही जैसे उसकी प्राप्ति के लिए चलने का जो परिश्रम है उसमें प्राणी को कष्ट मालूम होता है पर उसका लाभ हो जाने पर फिर उसके लिए बार-बार जाने में भी दुःख नहीं होता। वैसे ही आत्मानुभव के भी एक बार हो जाने पर फिर उसके लिए उद्योग करने में जीव को कष्ट नहीं मालूम होता प्रत्युत सुख ही होता है। पर जब तक ऐसा न हो तब तक पहले के अभ्यस्त विषयों में उसे सुख और नये उद्यम में कष्ट मालूम होता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की भावना अनेक कष्टों को सहकर भी करनी ही चाहिए जिससे कि आध्यात्मिक आनन्द का लाभ हो और सांसारिक कष्ट दूर हो जावें।

आगे की उत्थानिका—आचार्य कहते है कि आत्मस्वरूप की भावना निम्न प्रकार से करनी चाहिए—

श्लोक—तद्ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥५३॥

अन्वयार्थ—(तत्) उस आत्मस्वरूप को (ब्रूयात्) कहे अर्थात् उसी का व्याख्यान करे; (तत्) उसी आत्मस्वरूप को (परान्) दूसरों से यानि जिन्हें उसका अच्छा ज्ञान तथा अनुभव है उनसे (पृच्छेत्) पूछे; (तत्) उसी को (इच्छेत्) चाहे अथवा उसी की प्राप्ति की दृढ़ कामना

करे और (तत्परः भवेत्) उसी की भावना में आदरवान होकर लीन होवे (येन) जिस आत्मस्वरूप के द्वारा अर्थात् जिसकी भावना करने से (अविद्यामयं रूपं) अज्ञानमयी विभाव यानि बहिरात्मस्वभाव को (त्यक्त्वा) छोड़कर (विद्यामयं) ज्ञानमयी अर्थात् अंतरात्मस्वभावमयी अथवा केवल-ज्ञानमयी अवस्था को (व्रजेत्) प्राप्त हो जावे।

भावार्थ—यहाँ आचार्य महाराज ने सम्यग्दर्शन तथा केवलज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र उपाय आत्मस्वरूप की भावना को ही बतलाया है। वे कहते हैं कि जब तक मुमुक्षु जीव को स्वात्मानुभव का लाभ न हो तब तक उसे आत्मस्वरूप का ही कथन, उसी के सम्बन्ध में दूसरों से प्रश्न, उसी की चाह व उसी की भावना में निरंतर लीन होना चाहिए। जैसे किसी को जब गान-विद्या सीखनी होती है तो उसका उपयोग हर प्रकार से उसी की तरफ रहता है और तभी वह गान-विद्या का पंडित हो पाता है। इसी तरह भेदविज्ञान या सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए हर तरह से आत्मस्वरूप की चर्चा तथा भावना करनी चाहिए। पुनः पुनः आत्मतत्त्व का विचार करने से मिथ्याज्ञान व श्रद्धान नष्ट होकर सम्य-क्त्व भाव का लाभ हो जायेगा।

जब सम्यक्त्व या भेद-ज्ञान हो जावे तब भी आत्मभाव को न छोड़ कर बराबर आत्मा के स्वरूप का चिंतन, मनन तथा ध्यान करते जाना चाहिए। इसी आत्मानुभव के बल से कषायों का बल घटता है और जैसे-जैसे कषायें कमजोर पड़ती जाती है वैसे वैसे देशचारित्र व सकलचारित्र का ग्रहण होता जाता है और आत्मध्यान बढ़ता जाता है। इसी आत्मध्यान के प्रताप से एक दिन यह मुमुक्षु केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि अन्तरात्मस्वरूप की प्राप्ति करनी हो चाहे परमात्मस्वरूप की प्राप्ति—दोनों ही कार्यों के लिए आत्मा की चर्चा व भावना कार्यकारी है।

आगे की उत्थानिका—अब यहाँ कोई शंका करता है कि वचन और काय को छोड़कर जब आत्मा इनसे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ ही नहीं है तो उसकी चर्चा करो व उसी की भावना करो, यह बात कहनी ठीक नहीं है? इसी का समाधान आचार्य करते हैं—

श्लोक—शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयोः ।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां विबुध्यते ।।५४।।

अन्वयार्थ—(वाक्शरीरयोः) वचन और शरीर में (भ्रांतः) आत्मा की मान्यता करने वाला बहिरात्मा (शरीरे च वाचि) शरीर और वचन में (आत्मानं) आत्मा का (सन्धत्ते) आरोपण करता है (पुनः) परन्तु (अभ्रांतः) जो शरीर और वचन में आत्मा की भ्रांति नहीं रखता किन्तु यथावत् स्वरूप को जानता है ऐसा अन्तरात्मा (एषां तत्त्वं) इन शरीर और वचन के स्वरूप को (पृथक्) आत्मा से भिन्न (विबुध्यते) समझता है ।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि शरीर और वचन क्योंकि पुद्गल के द्वारा रचित हैं तथा आत्मा के स्वभाव नहीं है अतः इनमें आत्मपने की बुद्धि करना अज्ञान है । जो जीव आत्मा का स्वभाव अमूर्त्तिक व ज्ञानानंदमयी नहीं जानता है वही इनमें आत्मपने की कल्पना करता है परन्तु जो आत्मा को निश्चयनय से देखकर उसके त्रिकाल-अबाधित एवं तादात्म्यस्वरूप पारिणामिकभाव की श्रद्धा करता है, उसके भीतर कभी भी पर में अहं-बुद्धि नहीं होती । व्यवहार में अपने को शरीररूप व अन्य अनेक अवस्था-रूप कहता हुआ भी वह अपनी श्रद्धा में उन्हें अपना नहीं जानता और यही अंतरात्मा सम्यग्दृष्टि का लक्षण है । गृहस्थ सम्यग्दृष्टि जीव धन, धान्य, क्षेत्र, स्त्री व पुत्रादि पदार्थों को बाहर से अपना भी कहता है, अपना मानकर उनसे व्यवहार भी करता है पर फिर भी अंतरंग में इतना वैराग्य-वान होता है कि यदि उनका वियोग हो जाये तो अपने दिल में कुछ भी शोक नहीं लाता । वह इन सबको केवल थोड़े दिन के लिए अपना सेवक मान लेता है । जैसे वेतन लेकर नौकरी करते हुए सेवक के चले जाने पर मालिक को इसीलिये कोई दुःख नहीं होता क्योंकि उसे वह पर मानता है, वैसे ही शरीरादि के छूटते वा बिगड़ते हुए ज्ञानी को कोई शोक नहीं होता क्योंकि उसके मन में यह गाढ़ श्रद्धा होती है कि ये सब पर वस्तुएं हैं ।

आगे की उत्थानिका—इस तरह आत्मा के सच्चे स्वरूप को न जानता हुआ मूढ़बुद्धि बहिरात्मा इन्द्रियों के जिन विषयों में आसक्तचित्त

होकर फंस जाता है, उनमें से कोई भी विषय उसका उपकार करने वाला नहीं है, ऐसा आचार्य कहते हैं–

श्लोक–न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमङ्करमात्मनः ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥५५॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रियार्थेषु) उन पांचों इन्द्रियों के विषयरूप पदार्थों में (तत्) ऐसा कोई भी पदार्थ (न अस्ति) नहीं है (यत्) जो (आत्मनः) इस आत्मा का (क्षेमङ्करं) कुशलक्षेम करने वाला हो (तथापि) पर फिर भी (बालः) यह बालकवत् मूढ़ अज्ञानी बहिरात्मा (अज्ञानभावनात्) अनादिकालीन मिथ्यात्व के संस्कार से पाई हुई अपनी अज्ञान भावना के जोर से (तत्रैव) उन्हीं इन्द्रियों के विषयों में (रमते) रमण व प्रीति करता है और अपने स्वरूप में रमण नहीं करता ।

भावार्थ—आचार्य कहते है कि यदि भली प्रकार विचार किया जाये तो पांचों इन्द्रियों के द्वारा जो-जो भोजनादि अचेतन वा चेतन पदार्थ भोगने में आते है, उनमें मोह व रागद्वेष करना इस आत्मा के लिए हानि-कारक ही है, उपकारक नहीं क्योंकि आत्मा का स्वभाव तो पवित्र, ज्ञातादृष्टा, सुखमयी तथा निराकुल है और रागादि का स्वभाव अपवित्र, जड़, दुखःमयी तथा आकुलतामय है और वे रागद्वेषादि भाव जब अपने उपयोग में झलकते हैं तब आत्मा की पवित्रता बिगड़ती है, ज्ञान में विकार हो जाता है और बड़ी आकुलता उत्पन्न हो जाती है । उन मलिन परि-णामों के कारण आत्मा के साथ नवीन कर्मों का बंधन भी हो जाता है जिसके फल से दुर्गति व अन्य अशुभ संयोगों का सम्बन्ध उसे प्राप्त हो जाता है । ऐसा ही निर्णय कर श्री कुंदकुंद महाराज ने श्री 'प्रवचनसार' जी में इन्द्रियसुख का स्वरूप इस भांति बतलाया है–

गाथा--सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा ॥१०६॥

भावार्थ—इन्द्रियों से जो सुख होता है वह पराधीन है, बाधासहित

है, नाश होने वाला है, पापबंध का कारण है तथा चंचल है और इसी-
लिए वह दुःखरूप ही है ।

अतः यह बात सिद्ध होती है कि इन विषय-भोगों में इस आत्मा की कोई भी भलाई न होकर प्रत्युत बुराई ही है परन्तु अज्ञानी बहिरात्मा को क्योंकि पर-द्रव्यों से भिन्न आत्मा की व उसमें रहने वाले निरवधि, स्वाधीन, निराकुल तथा बंधछेदक अतीन्द्रिय सुख की प्रतीति नहीं होती इसीलिए उसे बाहरी पदार्थों में ही सुख भासता है । पुनः पुनः दुःख, शोक व रंज उठाते हुए भी वह फिर फिर दौड़कर उन्हीं इन्द्रियों के पदार्थों में जाता है और उनमें आसक्त हो जाता है । उसके चित्त में अज्ञान की ऐसी गाढ़ी भावना बैठी होती है जिससे उसकी बुद्धि में आत्मा का स्वरूप नहीं झलकता । इन्द्रियभोग ही उसका सर्वस्व होता है । तात्पर्य यह है कि ऐसी अज्ञान दशा छोड़कर ज्ञानरूप होना कार्यकारी है ।

आगे की उत्थानिका—आगे फिर भी आचार्य अनादिकालीन मिथ्यात्व के संस्कार के आधीन होने से बहिरात्माओं की दशा किस प्रकार की होती है, उसे बतलाते हैं—

श्लोक—चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु ।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥५६॥

अन्वयार्थ—(तमसि) मिथ्यात्व संस्काररूपी अंधकार के होते हुए (मूढात्मानः) मूढ़ बहिरात्मा प्राणी (चिरं) अनादिकाल से (कुयोनिषु) नित्य निगोद आदि चौरासी लाख योनियों में (सुषुप्ताः)सोये रहते हैं और उन्हें अपने आत्मस्वरूप की कुछ भी खबर नहीं होती क्योंकि मनरहित अवस्थाओं में विचार करने का अवसर हो नहीं होता । कदाचित् मन सहित अवस्थाओं में जब वे जन्म धारते हैं तब कुछ समझने लगते हैं परन्तु अज्ञान के होते हुए उन अवस्थाओं में भी (अनात्मीयात्मभूतेषु) अनात्मीय पुत्र, स्त्री व धनादि बिलकुल पर-वस्तुओं में तथा आत्मीय शरीर व इन्द्रियों आदि में (मम अहम् इति) ममकार अहंकार करते हुए यानि पुत्र, स्त्री

आदि में तो ममपना तथा शरीर, इन्द्रियों व रागद्वेषादि भावकर्मों में अहं-पना करते हुए वे (जाग्रति) जागते हैं और इस प्रकार संज्ञी अवस्था में भी अज्ञान की वासना से अपने असली स्वरूप को नहीं समझकर वे पर में ही अहंकार ममकार किया करते हैं।

भावार्थ--आचार्य अज्ञानी बहिरात्माओं की दशा बताते हैं कि ये जीव अनादिकाल से कर्मों से ऐसे बंधे है कि अपने सच्चे स्वरूप को बिल्कुल नहीं जानते और प्रत्येक पर्याय में पर्यायबुद्धिरूप ही बने रहते हैं। निगोद से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक की पर्यायों में इनके मन नहीं होता अतः विचार करने की शक्ति ही नहीं होती और इसीलिये ये बिल्कुल गाफिल रहते हैं। फिर पुण्य योग से यदि ये मन वाले भी होते हैं और उस दशा में विचार करने की शक्ति भी पाते हैं तो मिथ्यात्व के कारण उल्टा ही विचार करते हैं। 'अपना असली स्वरूप शुद्ध ज्ञानानन्दमय है' ऐसा न पहचानते हुए ये अपने को स्त्री, पुरुष, नपुंसक, राजा, सेठ वा सेवक आदि रूप मान लेते है। 'मै क्रोधी, मै मानी, मैं लोभी, मैं भयवान, मै कामी, मैं परोपकारी, मै दयावान, मै गृहस्थ और मै साधु'--इस तरह तो अहंकार किया करते हैं तथा 'मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरा धन, मेरा घर, मेरे खेत, मेरे वस्त्र, मेरा राज्य व मेरा देश'-इत्यादि रूप से ये पर में ममकार किया करते हैं और इस तरह विपरीतता में ही जागते है। कहने का प्रयोजन यह है कि ये जागने पर भी नहीं जागते अर्थात् इनका जागना भी मिथ्या होता है। इस तरह बहिरात्मा जीव हर एक पर्याय में महाक्लेश व दुःख उठाया करते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक भव्य जीव को उद्यम करके अपना असली स्वरूप अवश्य पहचानना चाहिए क्योंकि जब तक स्व-स्वरूप को यह प्राणी नहीं जानता तब तक इसका मिथ्या अहंकार व ममकार नहीं छूटता और महान क्लेशों को ही यह भोग करना है।

आगे की उत्थानिका--आगे आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवों! बहिरात्म-स्वभाव को छोड़ो और शरीर को कभी भी अपना न मानकर उसका इस तरह अनुभव करो--

श्लोक—पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा ।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वे व्यवस्थितः ।।५७।।

अन्वयार्थ—(आत्मतत्त्वे) आत्मा के यथार्थस्वरूप में (व्यवस्थितः) व्यवस्थित होता हुआ अन्तरात्मा (आत्मनः देहं) अपने शरीर को (अनात्मचेतसा) अनात्मबुद्धि से अर्थात् 'यह देह मेरी आत्मा नहीं है' इस बुद्धि से और (अन्येषां) दूसरे प्राणियों के शरीर को भी (अपरात्मधिया) 'वे दूसरों की आत्मा नहीं हैं' ऐसी बुद्धि से अर्थात् अनात्मबुद्धि से (निरंतरं) सदा ही (पश्येत्) देखे ।

भावार्थ-आचार्य कहते हैं कि अन्तरात्मा के लिए यही उचित है कि वह, पदार्थों का जैसा यथार्थस्वरूप है वैसा ही जाने, अन्य का स्वभाव अन्य में न लगावे और जीव का भाव पुद्गल में तथा पुद्गल का भाव जीव में न कल्पे । भावार्थ यह है कि वह अंतरात्मा अपने शरीर, अन्य पुद्गल सम्बन्धों तथा कर्मकृत रागादि औपाधिक भावों को अपनी आत्मा के असली स्वभावरूप कभी नहीं समझता और इसी तरह दूसरे के शरीर, अन्य पुद्गल सम्बन्ध व कर्मकृत रागादि भावों को भी वह दूसरों की आत्मारूप निश्चय नहीं करता । जैसे अपनी आत्मा के स्वभाव को वह पुद्गल से भिन्न अनुभव करता है वैसे ही दूसरों की आत्माओं को भी पुद्गल से भिन्न जानता है । जैसे कोई मनुष्य जिस तरह अपने घर में रक्खे हुए घी के घड़ों को देखकर उन घड़ों को मिट्टी का ही समझता है और घी को घड़ों से अलग जानता है उसी तरह दूसरों के घरों में रक्खे हुए घी के घड़ों को भी घी से अलग देखता है और किसी भी दशा में मिट्टी को मिट्टी तथा घी को घी ही समझता है । इसी तरह किसी भी पर्याय में चाहे कोई भी आत्मा हो पर आत्मा को आत्मारूप और पुद्गल को पुद्गलस्वरूप समझना ही ज्ञानी का स्वभाव है । इसी कारण सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहार में भिन्न-भिन्न नामों से कहते हुए व भिन्न-भिन्न रूप का व्यवहार करते हुए भी आत्मा के यथार्थ स्वभाव के निश्चय

से कभी गिरता नहीं है । अनुभव के समय सर्व आत्माओं को एक समान अनुभव कर वह परम समताभाव में लीन रहता है और राग द्वेष की कल्पनामात्र को त्याग देता है ।

आगे की उत्थानिका—आगे शिष्य शंका करता है कि जो आत्मस्वरूप का स्वयं अनुभव करते हैं वे उसका अनुभवन कर मूढ़ अज्ञानी जीवों को क्यों नहीं बताते, वे मूढ़ उस आत्मस्वरूप को स्वयं तो जानते नहीं पर यदि उनको बताया जाये तो वे भी जानकर सुखी होवें ? इसके समाधान में आचार्य गूढ़ मर्म की तरफ झुकते हुए इस भांति कहते हैं—

श्लोक—अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा ।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः ।।५८।।

अन्वयार्थ—(मूढात्मानः) अज्ञानी मूर्ख प्राणी (यथा) जिस तरह (अज्ञापितं) बिना समझाए हुए (मां) मेरे अर्थात् आत्मा के स्वरूप को (न जानन्ति) नहीं जानते हैं (तथा) वैसे ही (ज्ञापितं) समझाए जाने पर भी नहीं जानते क्योंकि उनके मिथ्यात्व भाव की प्रबलता है और जब वे किसी तरह समझ ही नहीं सकते (ततः) तब (तेषां) उन मूढ़ात्माओं के लिये (मे) मेरा (ज्ञापनश्रमः) समझाने का परिश्रम (वृथा) निष्फल है ।

इसी सम्बन्ध में दूसरा श्लोक कहते हैं—

श्लोक—यद्बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः ।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्यबोधये ।।५९।।

अन्वयार्थ—(यत्) जिस विकल्प के द्वारा आत्मस्वरूप को या देहादिक को (बोधयितुम्) समझाने की मैं (इच्छामि) इच्छा करता हूं (तत्) वह विकल्प (अहं) मैं निश्चय से (न) हूं नहीं (पुनः) और (यत्) जो चिदानन्दमयी स्वरूप (अहं) मैं हूं (तदपि) सो (अन्यस्य) दूसरे से (ग्राह्यं न) समझने योग्य नहीं है, वह तो स्वयं अनुभवने योग्य है (तत्) इसीलिये मैं (अन्यस्य) दूसरे को (किम्) क्या (बोधये) समझाऊं ?

भावार्थ--आचार्य यहां पर ध्यान की उन्नति करने वाले जीव को सम्बोधित करके कहते हैं कि तेरा यह विकल्प कि 'मैं मूढ़ अज्ञानियों को समझाकर उन्हें भी स्वानुभवी बना दूं' ठीक नहीं है क्योंकि जिन जीवों के मिथ्यात्व का तीव्र उदय है उनको समझाये जाने पर भी वे उसी तरह नहीं समझेंगे जिस तरह न समझाए जाने से नहीं समझते अतः उनके लिये तेरा परिश्रम वृथा जायेगा। दूसरी बात यह है कि आत्मा के जिस स्वरूप को वचनों से समझाने का विकल्प किया जाता है, वह स्वरूप वचन के अगोचर है। वचनों से आत्मा के कुछ विशेषण तो संकेत रूप में कहे जा सकते हैं पर कोई भी प्राणी वचनमात्र से आत्मा का अखंड ज्ञानानंद-मयस्वरूप नहीं समझ सकता, उसका स्वरूप तो केवल अनुभवगोचर है। जैसे हमने किसी ऐसे मनुष्य को जिसने आज तक कभी भी आम नहीं चखा है, आम के फल के सम्बन्ध में कहा कि यह आम तो इतना मीठा है कि मिश्री भी इसके सामने कोई वस्तु नहीं है। मीठे आम का ऐसा गुण सुन लेने पर तथा उसका निश्चय कर लेने पर भी जब तक वह मनुष्य उस फल को आस्वादेगा नहीं तब तक उसे उसकी मिठास का ठीक ज्ञान न होगा परन्तु जिह्वा पर रखने के साथ ही उसको निश्चयपूर्वक यह ज्ञान हो जायेगा कि किस प्रकार का मीठापन इस आम में है। जिस मीठेपन का ज्ञान करोड़ों बार भी उसका स्वरूप सुनने पर न होता वह ज्ञान एक क्षण में हो जाता है। इसी तरह आत्मा का स्वरूप भी प्रत्येक के अपने-अपने अनुभव में आने योग्य है। कोई भी प्राणी वचनों से उसका यथार्थ स्वरूप नहीं कह सकता और न कोई सुनने मात्र से जान ही सकता है परन्तु उसका एक क्षणमात्र भी अनुभव करने से वह जान लिया जाता है।

यहाँ पर आचार्य देव ने अंतरात्मा के इस अहंकार को मिटाया है कि मैं दूसरों को आत्मज्ञानी बना सकता हूं। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वानुभवकर्त्ता पुरुष को अपने स्वरूप के अनुभव में विशेष दिल लगाना चाहिये। पर को उपदेश देने के लिये उसे अपना स्वहित तो भुलाना नहीं चाहिये पर जब कोई संसार के दुःखों से भयभीत प्राणी मिले तब उसे

वचनों के द्वारा आत्मा का जो कुछ स्वरूप कहा जा सकता है सो बताकर यह कहना चाहिए कि यह हमने केवल संकेत किया है, समझने वाले को तो स्वयं नित्य मनन करके विचारना चाहिए और अपने भीतर उस आत्मवस्तु का ध्यान के द्वारा अनुभव करना चाहिए। स्वानुभव ही से स्व-स्वरूप समझ में आ सकता है। इस कथन से यह न समझना कि धर्मोपदेशरूप स्वाध्याय का निषेध किया है पर स्वात्मध्यान का घात करके धर्मोपदेश की मनाई की है।

जब स्वात्मानुभव में चित्त नहीं लगता तब ज्ञानी धर्मोपदेश भी करता है परन्तु उस समय यह क्षोभ नहीं करता कि मेरी बात को सब मान ही लें। उदासीन भाव से वस्तु का यथार्थस्वरूप वह समझाता है तथा मन में यह खूब जानता है कि जब इनके मिथ्यात्व का जोर घटेगा तब ही ये समझेंगे, मै तो केवल निमित्तमात्र हूं। तथा यदि कोई उसके उपदेश से आत्म-ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है तो वह यह अहंकार नहीं करता कि मेरे उपदेश से यह सुधरा है। उसके सुधरने में वह उसी के कर्म के क्षयोपशम होने को ही कारण जानता है। जिनके मोह का तीव्र उदय होता है वे तो पदार्थ को समझने की रुचि ही नहीं करते तथा समझाये जाने पर भी उनके दिल पर कुछ असर नहीं होता परन्तु जिनके मोह का मंद उदय होता है उन्हे पर का उपदेश निमित्त पड़ जाता है। तात्पर्य यह है कि तत्वज्ञानी को किसी भी तरह परोपदेश के अहंकार में पड़कर अपने समाधिभाव को न गमाना चाहिए। समाधिभाव का साधन परोपदेश की उपेक्षा बुद्धि से ही होता है और यही कारण है कि तीर्थंकर महाराज तप को धारण करके केवलज्ञान होने तक मौन रखते हैं, धर्मोपदेश नहीं देते।

आगे की उत्थानिका--अंतरंग तत्त्व को समझाए जाने पर भी बहिरात्मा का अनुराग उस तत्त्व में होना संभव नहीं है क्योंकि मोह के उदय से उस का अनुराग बाहरी पदार्थों में ही होता है, इसी बात को अब दिखाते है--

श्लोक--बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यंतः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥६०॥

अन्वयार्थ-(अन्तरे पिहितज्योतिः) अंतरंग में जिसकी ज्ञान-ज्योति, मोह या मिथ्यात्व से विपरीत हो रही है ऐसा (मूढ़ात्मा) मूढ़बुद्धि अज्ञानी जीव (बहिः) बाहरी शरीरादि पदार्थों में (तुष्यति) प्रीति करता है परन्तु (प्रबुद्धात्मा) जिसके मिथ्यात्व का उदय नहीं है ऐसा आत्मज्ञानी जीव (बहिर्व्यावृत्तकौतुकः) बाहरी शरीरादि पदार्थों में मूर्च्छा को त्यागता हुआ (अन्तः) अंतर में जो आत्मतत्त्व है, उसमें (तुष्यति) प्रीति करता है।

भावार्थ--अज्ञानी बहिरात्मा को अनादिकाल से अपनी आत्मा के स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान नहीं है अतः उसका ज्ञान मोह के उदय के वशीभूत हो बहुत ही मैला व बेहोश हो रहा है और इसी कारण उसे इन्द्रिय-विषय भोगों का गाढ़ प्रेम है। उस प्रेम के मद्य में वह चूर हुआ रहता है और अपनी विषय वासना के पोषक शरीर, स्त्री, धन, पुत्र व मित्र आदि जो भी बाहरी पदार्थ उसे प्राप्त होते हैं उन्हीं में अनुरागी होकर वह संतोष मानता है। जैसे एक गंवार मनुष्य सुस्वादु मिठाई के स्वाद को न जानकर उसे तो खाता नहीं किन्तु रूखे चने चबाने में आनन्द मानता है या काग अन्नादि के भोजन को छोड़कर विष्ठा के खाने में अनुरागी हो जाता है अथवा जोंक जंतु छाती में लगकर अच्छे खून को तो छोड़ देती है किन्तु मैले व विषैले खून को पीती है वा एक मूर्ख बालक मिट्टी मिले हुए अनछने पानी को पानी जानकर पी लेता है। वैसे ही अज्ञानी जीव आत्मा के आनंद को नहीं पहचानता हुआ विषय-वासना में घुला रहकर इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने वाले पदार्थों में ही रंजायमान होता है परन्तु जिस जीव को एक बार भी आत्मज्ञान व स्वानुभव होने से अपने अतीन्द्रिय आनन्द का श्रद्धान हो गया है, ऐसा आत्मज्ञानी सदा ही शरीरादि बाहरी पदार्थों में बिल्कुल भी आसक्त न होता हुआ अपने आत्मतत्त्व के अनुभव में ही आनन्दित होता है और उसका प्रेम आत्मसुख में ही दृढ़तर होता है। इसी से आचार्य कहते हैं कि जैसे अंधे के सामने नाचना कार्यकारी नहीं वैसे ही अज्ञानी मूढ़मति को समझाने से भी कोई लाभ नहीं, उल्टे अपना परिश्रम व्यर्थ ही जाता है।

तात्पर्य यह है कि जो अपना स्वहित करना चाहते हैं उन्हें उचित है कि वे पर को समझाने के विशेष आग्रह में न पड़ें किन्तु स्वरूप के अनुभव में ही सावधान रहें और यदि अचानक कोई ऐसा अवसर आ ही जाये तो वीतराग-भाव से वे उपदेश तो दे दें पर उसे यदि कोई स्वीकार न करे तो चित्त में किसी तरह का कोई खेद न मानें।

आगे की उत्थानिका—अंतरात्मा शरीर आदि को भूषित वा अलंकारित करने के अनुराग से क्यों हटा हुआ होता है, इसका समाधान आचार्य करते हैं–

श्लोक--न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥६१॥

अन्वयार्थ---(शरीराणि) सब शरीर (सुखदुःखानि) जड़ होने से सुखों तथा दुःखों को (न जानन्ति) नहीं जानते हैं (तथापि) तो भी (अबुद्धयः) अज्ञानी बहिरात्मा जीव (अत्रैव) इन्हीं शरीरों पर ही (निग्रहानुग्रहधियं) निग्रह अर्थात् दंड और अनुग्रह अर्थात् उपकार की बुद्धि (कुर्वते) किया करते हैं।

भावार्थ–यहां आचार्य ऊपर के प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि शरीर जड़ है, ज्ञान से रहित है और उस पर यदि कुछ उपकार या अपकार किया जाये तो वह सुखी या दुःखी नहीं होता अर्थात् यदि कोई शरीर से द्वेष करके उसे उपवासादि कायक्लेश से सुखावे तो वह दुःख अनुभव नहीं करता और यदि उस पर राग करके उसे कड़े, माला, कटि-सूत्र आदि आभूषण तथा मनोहर वस्त्रों से सुशोभित करे तो वह कुछ सुख अनुभव नहीं करता क्योंकि शरीर में चेतनागुण नहीं है। यह अज्ञानी जीव ही शरीर को अपना मानता है और इस मोह के कारण शरीर की शोभा से सुखी तथा उसे क्लेश पहुंचने से दुःखी हो जाता है। कहने का प्रयोजन यह है कि जिन्होंने विषय-सुख को ही सुख माना है ऐसे अज्ञानी जीव ही इष्ट शरीरादि पर-वस्तुओं के रहते हुए सुखी व उनके बिगड़ते हुए दुःखी हो जाते हैं।

आचार्य कहते हैं कि यह बहिरात्मा जीवों की मिथ्याबुद्धि ही है जिससे पर की शोभा व अशोभा से वे आप सुखी व दुःखी होते हैं पर अंतरात्मा ने क्योंकि विषयवासना का राग छोड़ दिया है और अपने अतीन्द्रिय आनन्द में ही सुख समझा है, इसी कारण वह शरीर व उसके आश्रय से रहने वाली इन्द्रियों से अत्यन्त विरक्त है और उसे शरीर को सुशोभित करने का अन्तरंग से प्रेम नहीं होता। व्यवहार में रहते हुए यदि लौकिक रीति के अनुसार उसे शरीर को सजाना भी पड़ता है तो वह भीतर से रंजायमान नहीं होता और यदि कर्मोदय से शरीर को भूख प्यास की तीव्र वेदना होकर वह गलने लग जावे तो अपने मन में दुःखी नहीं होता। वह न तो शरीर से द्वेष कर स्वयं तीव्र कायक्लेशादि करके उसे मृत-तुल्य बनाता है और न ही राग करके उसे भोगों में स्वच्छन्द हो लगाता है। शरीर को वह एक चाकर के समान रखता है, भोजनपानादि देता है और उसे स्थिर रखकर उससे अपना आत्मकार्य कर लेता है, व्यर्थ उसे कष्ट देकर मारता नहीं तथा शरीर से उतना ही तप करता है जितने तप से ध्यान और स्वाध्याय में दिन-प्रतिदिन उन्नति होती जावे और कोई कमी न रहे।

आगे की उत्थानिका–जब तक शरीर आदि पर-पदार्थों में आत्मपने की बुद्धि हो रही है तभी तक संसार है तथा इस बुद्धि के छूटने पर ही मुक्ति है, ऐसा दिखाते हुए कहते हैं—

श्लोक–स्वबुद्धया यावद्गृह्णीयात्कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निवृतिः ॥६२॥

अन्वयार्थ––(यावत्) जब तक (कायवाक्चेतसां त्रयम्) शरीर, वचन और मन–इन तीनों का (स्वबुद्धया) आत्मपने की बुद्धि से (गृह्णीयात्) ग्रहण है (तावत्) तब तक (संसारः) संसार है अर्थात् जीव का संसार में भ्रमण है (तु) परन्तु (एतेषां) इनके (भेदाभ्यासे) भेद का इस रूप ज्ञान होने से कि ये तीनों मन, वचन व काय आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं, (निवृतिः) मुक्ति है अर्थात् संसार से जीव छूट जाता है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि जब तक यह जीव बहिरात्मा है अर्थात् शरीरादि बाहरी पदार्थों में आत्मपने की बुद्धि रखता है तथा ऐसी बुद्धि से उनमें अत्यन्त मोहित हो उनके साथ तन्मय होकर व्यवहार करता है तब तक ही उसे सांसारिक विषयों में अनुराग होता है और उस राग बुद्धि से वह ऐसा ही कर्मबंध किया करता है जिससे पुनः पुनः शरीर धारण करना पड़े पर जब मन, वचन व काय से आत्मा की भिन्नता का उसे ज्ञान हो जाता है तब उसकी रुचि अतीन्द्रिय सुख में हो जाती है जिससे उसे स्वयमेव ही संसार शरीर भोगों से वैराग्य हो जाता है और उस विरक्ति का फल यह होता है कि उसके पुराने कर्मों की अधिक निर्जरा तथा नवीन कर्मों का संवर होता है, जिससे वह अंतरात्मा मोक्ष के निकट आता जाता है और एक दिन पूर्ण तरह से मुक्त हो जाता है।

आगे की उत्थानिका—शरीर आदि से आत्मा का भेद-विज्ञान हो जाने पर वह अंतरात्मा शरीर की दृढ़ता वा मरणादि में आत्मा की दृढ़ता वा मरणादि को नहीं मानता है, इसी बात को आगे दिखाते हैं—

श्लोक—घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥६३॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे बुद्धिमान मनुष्य (घने वस्त्रे) शरीर पर बहुत मोटे वस्त्रों को पहन लेने पर भी (आत्मानं) अपने को (घनं) मोटा (न मन्यते) नहीं मानता (तथा) वैसे (स्वदेहे) अपनी देह के (घने अपि) मोटे होने पर भी (बुधः) बुद्धिमान अंतरात्मा (आत्मानं) अपनी आत्मा को (घनं) मोटा (न मन्यते) नहीं मानता।

भावार्थ—जैसे किसी दुबले-पतले मनुष्य ने जाड़े के काल में रुई के बहुत मोटे कपड़े पहन लिए हों और बाहर से वह मोटा दिखता भी हो तो भी अपने शरीर को वह मोटा नहीं मानता, उसे तो वह जैसा दुबला-पतला हो वैसा ही समझता है। ऐसे ही अंतरात्मा ज्ञानी जीव अपनी देह

को मोटी देखकर अपनी आत्मा को मोटी नहीं समझता, उसे तो वह देह से भिन्न एक चैतन्यमयी मूर्ति ही मानता है।

ऐसा ही और भी कहते हैं–

श्लोक--जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥६४॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (वस्त्रे जीर्णे) वस्त्रों के पुराना होते हुए कोई बुद्धिमान (आत्मानं) अपनी देह को (जीर्णं) पुराना (न मन्यते) नहीं मानता (तथा) वैसे ही (स्वदेहे) अपनी देह के (जीर्णे अपि) जीर्ण होने पर भी (बुधः) बुद्धिमान ज्ञानी (आत्मानं) अपनी आत्मा को (जीर्णं) जीर्ण (न मन्यते) नहीं मानता।

पुनः यही कहते है–

श्लोक--नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (वस्त्रे नष्टे) कपड़ों का नाश होने पर कोई (आत्मानं) अपने को (नष्टं) नष्ट हुआ (न मन्यते) नहीं मानता (तथा) वैसे ही (बुधः) बुद्धिमान (स्वदेहे अपि नष्टे) अपनी देह के नष्ट होने पर भी (आत्मानं) अपनी आत्मा को (नष्टं) नष्ट हुआ (न मन्यते) नहीं मानता।

फिर से ऐसा ही कहते है–

श्लोक—रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥६६॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (वस्त्रे रक्ते) कपड़ों के लाल होते हुए वा लाल रंग के कपड़े पहने हुए कोई (आत्मानं) अपनी देह को (रक्तं) लाल (न मन्यते) नहीं मानता (तथा) वैसे ही (बुधः) बुद्धिमान (रक्ते स्वदेहे अपि) लाल रंग की अपनी देह होने पर भी (आत्मानं) अपनी आत्मा को (रक्तं) लाल (न मन्यते) नहीं मानता।

भावार्थ—यहां आचार्यदेव ने भेदज्ञान की रीति बताई है। दो भिन्न-

भिन्न पदार्थों के संयोग सम्बन्ध होने पर भी एक द्रव्य व उसके गुण तथा पर्याय दूसरे द्रव्य तथा उसके गुण व पर्याय से एकमेक नहीं हो सकते। इसके लिए दृष्टान्त ये हैं कि जैसे यदि कोई मोटा कपड़ा पहने हो पर उसका शरीर दुबला हो तो वह मोटे कपड़े को जुदा ही जानता है, उसके संयोग होने पर भी शरीर को मोटा नहीं मानता; यदि कोई पुराने कपड़े पहने हो और उसका शरीर युवा हो तो वह शरीर को पुराना या वृद्ध नहीं मानता; यदि किसी के कपड़े छिन्न-भिन्न वा नष्ट हो जाएं तो वह शरीर को नष्ट-भ्रष्ट हुआ नहीं मानता और यदि कोई गोरे शरीर वाला लाल रंग के कपड़े पहने हो तो लाल कपड़ों से उसका शरीर लाल नहीं हो जाता, वह तो गोरा ही रहता है। ये सब दृष्टान्त हैं। दार्ष्टान्ति यह है कि आत्मा के साथ जो शरीर है उससे आत्मा की अत्यन्त भिन्नता है। शरीर यदि जीर्ण हो जाय तो आत्मा जीर्ण नहीं होता; शरीर यदि युवा व मोटा-ताजा हो तो आत्मा युवा या मोटा-ताजा नहीं होता; शरीर यदि रोगी होकर वा सड़कर नष्ट-भ्रष्ट हो जाये तो आत्मा नष्ट-भ्रष्ट नहीं होता तथा शरीर यदि लाल, सफेद, गोरा वा काला हो तो आत्मा लाल, सफेद, गोरा या काला नहीं होता क्योंकि आत्मा तो अमूर्त्तिक, चैतन्य-धातुमयी, असंख्यातप्रदेशी व अखंड है तथा शरीर जड़, मूर्त्तिक, परमाणुओं के स्कंधरूप एवं खंड-खंड होने वाला है। इस तरह शरीर की दशा बनने वा बिगड़ने से आत्मा की दशा बनती वा बिगड़ती नहीं। आत्मा न तो अपनी अखंडता को छोड़ता है और न चैतन्यपने को ही छोड़ता है।

इसी प्रकार इस जीव के साथ जो तैजस वा कार्माण शरीर हैं वे भी इसकी आत्मा से भिन्न हैं क्योंकि वे पुद्गल, जड़ हैं और आत्मा चेतन है। कार्माण शरीर ज्ञानावरणादि आठ कर्म वर्गणाओं का समुदाय है, उसमें समय-समय नई-नई वर्गणाएं आती हैं और पुरानी वर्गणाएं उससे छूटती हैं। इन जड़ कर्मों के उदय से आत्माके भाव में जो कुछ रागद्वेषादि विकार होते हैं वे सब भी आत्मा का स्वभाव नहीं है प्रत्युत कर्मों के उदय का रंग है। वह रंग क्योंकि पुद्गल का है अतः जड़ है जबकि वह

आत्मा जिस पर रागादि का रंग चढ़ता है, चेतन है। इस तरह यह आत्मा पुद्गल के सर्वप्रकार के विकारों से भिन्न है—ऐसा जानकर अंतरात्मा अपनी आत्मा के स्वभाव को सदा ही सिद्ध भगवान के समान शुद्ध, ज्ञाता-दृष्टा, अविनाशी तथा आनन्दमय ही अनुभव करता है एवं शरीर के छूटने, बिगड़ने वा मरने आदि से अपना कोई बिगाड़ वा मरण नहीं मानता।

आगे की उत्थानिका—इस प्रकार आत्मा को शरीरादि से भिन्न जानने वाले अंतरात्मा को जब ये शरीरादि काष्ठादि के समान मालूम होते हैं, तब इसे मुक्ति की योग्यता होती है, ऐसा दर्शाते हुए कहते हैं—

श्लोक—यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रिया भोगं स शमं याति नेतरः ॥६७॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस आत्मा के विचार में (सस्पन्दं) हलन-चलनयुक्त (जगत) यह शरीरादि रूप जगत (निःस्पन्देन समं) स्थिर के समान अर्थात् काष्ठ, पाषाणादि के बराबर, (अप्रज्ञम्) प्रज्ञारहित अचेतन जड़ तथा (अक्रिया भोगं) पदार्थ की चंचलता रूप क्रिया से एवं सुखादि के अनुभवरूप भोग से रहित (आभाति) मालूम होता है (सः) वह पुरुष (शमं याति) परम वीतराग भाव को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसे संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य हो जाता है (इतरः न) और कोई दूसरा वैराग्य-भाव को प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ—यहाँ पर यह आशय है कि किस तरह के विचार से अंत-रात्मा में समताभाव पैदा होता है। ये शरीर व अन्य जड़ पदार्थ किसी चेतन वा अचेतन की प्रेरणा से गमनागमन करते हैं। जिस समय पर्याय-दृष्टि को गौण कर द्रव्य की दृष्टि से यह अंतरात्मा विचार करता है तो छहों द्रव्य उसे अपने-अपने स्वभाव में मग्न मालूम होते हैं। जैसे सब जीव शुद्ध ज्ञानानंदमय एवं वीतराग ही उसके जानने में आते हैं वैसे ही सर्व पुद्गल भी उसे स्पर्श, रस, गंध, वर्णमयी, मूर्तिक, जड़ और काष्ठपाषाण के समान दीखते हैं। धर्मादि चार द्रव्य तो सदा अपने स्वभाव में स्थिर हैं ही, केवल

जीव तथा पुद्गल ही क्रियावान् हैं। इन दोनों का उलट-फेर से ही जगत में ये अनेक अवस्थाएं हो रही हैं जिनमें यह अज्ञानी जीव तन्मय हो जाता है पर जब पर्यायदृष्टि को गौण कर अंतरात्मा द्रव्य की दृष्टि से इन्हें देखता है तब ये दोनों भी उसे अपने-अपने शुद्ध स्वभाव में ही दीखते हैं। मन, वचन, काय की सम्पूर्ण क्रियाएं भी उसे पर्यायदृष्टि से ही मालूम होती हैं, शुद्ध द्रव्यदृष्टि में ये तीनों भी काम करते नहीं मालूम होते।

इस द्रव्यदृष्टि के प्रताप से अंतरात्मा के राग, द्वेष, मोह जब जाते रहते हैं और उसमें परम समताभाव तथा सहज आनन्द भाव पैदा हो जाता है तब चेतन बिना यह अचेतन जड़ जगत उसे स्पष्टतया ज्ञानरहित, चंचलता रहित, सुखादि के भोग रहित तथा अपने स्वभावमय ही झलकता है। इस तरह जिस किसी भव्य प्राणी को द्रव्यार्थिकनय से भेदज्ञान करने की आदत हो जाती है उसी के परम शांतभाव हो सकता है, दूसरे किसी के नहीं। इसी शांतभाव से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है तथा उसे वैसा अतीन्द्रिय आनंद प्राप्त होता है जैसा सिद्ध अवस्था में सिद्धों को होता है। यह शांतभाव मोक्षस्वरूप वीतरागभाव का बीज है।

आगे की उत्थानिका--जब आत्मा शरीरादि से भिन्न है तथा इसका भिन्न अनुभव करने से परम शांति प्राप्त होती है तब बहिरात्मा शरीरादि पुद्गल द्रव्यों से भिन्न आत्मा को क्यों नहीं समझता, अब इस बात का आचार्य समाधान करते है-

श्लोक--शरीरकञ्चुकेनात्मा संवृतज्ञानविग्रहः।
नात्मानं बुध्यते तस्माद्भ्रमत्यतिचिरं भवे ॥६८॥

अन्वयार्थ-(शरीरकञ्चुकेन) कार्माण शरीर रूपी कांचली से (संवृतज्ञान विग्रहः) जिसका ज्ञान शरीर ढक रहा है, ऐसा वह (आत्मा) बहिरात्मा जीव (आत्मानं) अपनी आत्मा को, जैसा उसका सच्चा स्वरूप है वैसा (न बुध्यते) नहीं जानता है और (तस्मात्) इसी अज्ञान के कारण वह (अतिचिरं) दीर्घकाल तक (भवे) इस संसार में (भ्रमति) भ्रमण किया करता है।

भावार्थ—जिस जीव के ऊपर मिथ्यात्व कर्म का तीव्र परदा पड़ा होता है वह आत्मा का स्वरूप समझाये जाने पर भी नहीं समझता और यदि समझता भी है तो कुछ का कुछ समझता है। उसकी बुद्धि में आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं झलकता। आचार्य कहते हैं कि जो आत्मा को नहीं समझता उसे उस अतीन्द्रिय सुख का भी निश्चय नहीं होता जो आत्मा का स्वभाव है और इसीलिए वह अज्ञानी प्राणी इन्द्रिय-सुखों में गाढ़ प्रेम रखता हुआ उन्हीं के लिए रात-दिन चाहना करता है व उनके लिए ही उद्योग किया करता है। उसे उनमें अत्यधिक रागद्वेष व मोह होता है जिससे उसके तीव्र कर्मों का बंध हुआ करता है और वह दीर्घ-काल तक संसार में भ्रमता है। संसार भ्रमण के कारण ये ही मिथ्या-त्वरूप मोह तथा रागद्वेष है जो आत्मज्ञान के अभाव में प्राणी के सदा हुआ करते हैं इसीलिए जो संसार से निवृत्ति चाहते हैं, उन्हें अज्ञान के अभाव का उद्योग करना जरूरी है।

आगे की उत्थानिका—शिष्य प्रश्न करता है कि जब बहिरात्मा जीव जैसा उस आत्मा का स्वरूप है वैसा नहीं समझते तो वे उसका स्व-रूप कैसा जानते हैं, इसी का आचार्य समाधान करते हैं—

श्लोक—प्रविशद्गलितां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ।
स्थितिभ्रांत्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ॥६९॥

अन्वयार्थ—(अबुद्धयः) अज्ञानी बहिरात्मा जीव (समाकृतौ) समान आकार में अर्थात् आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध रखने वाले (प्रविशद्गलितां) आते और जाते हुए (अणूनां) परमाणुओं के (व्यूहे) समुदायरूप (देहे) देह की (स्थिति भ्रांत्या) स्थिति रहने के भ्रम से अर्थात् देह सदा बनी रहेगी, इस भ्रम से (तम्) उस देह को (आत्मानम्) आत्मा ही (प्रपद्यन्ते) समझ लेते हैं अर्थात् उन्हें देह और आत्मा एक रूप ही हैं, ऐसा मिथ्या श्रद्धान होता है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि अज्ञानी जीव इस शरीर को ही आत्मा

मान लेता है । यद्यपि शरीर पुद्‌गल के परमाणुओं का समूह है, इसमें नए परमाणु आकर मिलते रहते हैं और पुराने इससे छूटते रहते हैं तो भी अज्ञानी जीव इस शरीर को सदा एक-सा मानकर उसमें थिर बुद्धि करता है। वह समझता है कि यह शरीर एक अखंड द्रव्य है तथा सदा बना रहेगा पर ऐसा है नहीं । शरीर तो बहुत से परमाणुओं का समूह है, एक अखंड द्रव्य नहीं है तथा यह आयुकर्म के आधीन भी है, जब आयु पूरी हो जाती है तब जिन परमाणुओं का शरीर में बंधान है वे खिर जाते है। आत्मा और शरीर का ऐसा एकमेक सम्बन्ध है कि जहां आत्मा है वहीं शरीर के परमाणु भी तिष्ठते हैं ।

अज्ञानी जीव को भिन्न आत्मा का स्वरूप मालूम नहीं होता इसी कारण वह शरीर में अहंबुद्धि करके अपने को उस रूप ही देखता जानता है। शरीर के पुष्ट व बलवान होने पर मैं पुष्ट व बलवान हूं, शरीर के निरोग होने पर मैं निरोग हूं, शरीर के सुन्दर होने पर मैं सुन्दर हूं, शरीर के रोगी होने पर मैं रोगी हूं और शरीर के मरने पर मै मरता हूं-इत्यादि रूप की वह मान्यता करता है और इस प्रकार शरीर की जो-जो दशा होती है उसे वह अपनी ही दशा समझता है। शरीर के सातारूप रहने में सुखी व असातारूप होने में वह दुःखी हो जाता है और उसका दीर्घ-काल तक रहना वांछता है। अपना आपापना वह देह में ही मान लेता है और 'मैं शुद्ध, बुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा व आनंदमयी एक चैतन्य पदार्थ हूं' ऐसा नहीं समझता ।

आगे की उत्थानिका—अब आचार्य कहते हैं कि जिस अज्ञानी जीव को आत्मा का यथार्थ स्वभाव मालूम नहीं है उसे अपनी आत्मा को देह से भिन्न जानने के लिए इस तरह की भावना करनी चाहिए—

श्लोक—गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यंगेनाविशेषयन् ।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥७०॥

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (गौरः) गोरा, (स्थूलः) मोटा (वा कृशः) या

दुबला हूं (इति) इस प्रकार की मान्यता को (अंगेन) शरीर के साथ (अविशेषयन्) एक रूप मानता हुआ अर्थात् गोरापना, मोटापना या दुबलापना आदि रूप अवस्था मुझ आत्मा की नहीं है किन्तु इस शरीर की है, ऐसा जानता हुआ (नित्यं) सर्वदा (आत्मानं) अपनी आत्मा को (केवल ज्ञप्तिविग्रहम्) मात्र ज्ञानस्वरूप ही अर्थात् रूपादि रहित ज्ञानरूप ही है स्वरूप जिसका, ऐसा (धारयेत्) अपने चित्त में धारण करे।

भावार्थ—जो भव्य जीव अपनी आत्मा का अनुभव करना चाहे, उसे बार-बार आत्मा का स्वरूप शरीर आदि के स्वरूप से भिन्न विचारना, मनन करना तथा धारना चाहिए। भिन्न-भिन्न लक्षणों के द्वारा उसे इस प्रकार लक्ष्य को भिन्न-भिन्न विचारना चाहिए कि जो मूर्ति न हो जिसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श न हो, जो चैतन्य अर्थात् ज्ञान दर्शनस्वरूप हो और कर्म निमित्त से होने वाले रागद्वेषादि औपाधिक भावों से जुदा हो ऐसा परमात्मा के समान जो कोई है सो तो मेरा आत्मा है तथा इसके विपरीत जिसमें ये आत्मिक गुण न हों अर्थात् जिसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श हो और जो चेतना रहित हो सो पुद्गल व जड़ है तथा ऐसा ही मेरा स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर है। स्थूल औदारिक शरीर भी जड़ है तथा सूक्ष्म तैजस और कार्माण शरीर भी जड़ ही है। मैं आत्मा ज्ञायक हूं, पुद्गल अनात्मा अज्ञायक है और मेरे द्वारा जानने योग्य है—इस तरह बार-बार शरीर के स्वभाव से भिन्न और अपने स्वभाव में तन्मय आत्मा की भावना करनी चाहिए। तथा कर्मोदय से होने वाली जो जीवसमास, मार्गणा व गुणस्थान रूप अवस्थाएं जीव की कही जाती हैं वे भी आत्मा का निज स्वभाव न होने से आत्मा से भिन्न हैं—इस प्रकार भेदज्ञान के बल से अपनी आत्मा को सिद्ध के समान विचारना चाहिए। महीनों वा वर्षों तक निरंतर इसी बात का अभ्यास रखना चाहिए। बार-बार अभ्यास करने की इसीलिए आवश्यकता है कि इस जीव को अनादिकाल से परस्वरूप ही आत्मा का अनुभव है और निरंतर अभ्यास से ही यह मिथ्या अनुभव मिटकर यथार्थ अनुभव की प्राप्ति हो सकती है। अतः पुनः-पुनः भेदज्ञान का अभ्यास करके अपनी वृत्ति को आत्मस्वरूप बनाना चाहिए।

आगे की उत्थानिका–आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार आत्मा को जो एकाग्रमन से भाता है उसकी ही मुक्ति होती है, दूसरे की नहीं–

श्लोक—मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचलाधृतिः ।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ।।७१।।

अन्वयार्थ–(यस्य) जिस अंतरात्मा के (चित्ते) चित्त में (अचला धृतिः) आत्मस्वरूप की निश्चल धारणा है अर्थात् जिसकी स्वस्वरूप में लवलीनता है (तस्य) उस महापुरुष की (मुक्तिः) मुक्ति होना अथवा उसका कर्मों से छूटकर स्वाधीन, स्वतंत्र होना (एकान्तिकी) अवश्यम्भावी यानि अवश्य सिद्ध है तथा (यस्य) जिसकी (अचला धृतिः) आत्मस्वरूप में निश्चलता से थिरता (नास्ति) नहीं है (तस्य) उस समाधिरहित पुरुष की (मुक्तिः) मुक्ति होना (एकान्तिकी न) अवश्य असिद्ध है ।

भावार्थ–यहाँ पर आचार्य मोक्षप्राप्ति व स्वस्वरूप साधन का पक्का माध्यम वा समर्थ कारण बताते हैं । जिस कारण के होने पर कार्य अवश्य हो व न होने पर न हो, उसे समर्थ कारण कहते हैं । सिद्धांत में मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र है । इसी को रत्नत्रय कहते हैं । इसके दो भेद हैं–एक भेद रत्नत्रय, दूसरा अभेद रत्नत्रय । भेद रत्नत्रय अभेद रत्नत्रय का निमित्त कारण है तथा अभेद रत्नत्रय साक्षात् उपादान व समर्थ कारण है । यथार्थ देवगुरुशास्त्र का श्रद्धान व सात तत्वों का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है, इन्हीं का निश्चयपूर्वक ज्ञान व्यवहार सम्यग्ज्ञान है तथा अशुभोपयोग से छूटकर महाव्रत या अणुव्रतरूप शुभोपयोग में वर्तना व्यवहार सम्यग्चारित्र है । इन्हीं तीनों की एकता को भेद वा व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं और इनके निमित्त से आत्मा को ज्ञातादृष्टा, आनन्दमयी, अमूर्त्तिक व परमात्मा सिद्ध भगवान् के समान निर्विकार निश्चय करना, ऐसा ही जानना व इसी प्रकार के स्वरूप में ऐसा लवलीन हो जाना कि आप आप से ही आपका अनुभव हो तथा आप आप ही अपने स्वाद में इस तरह तन्मय हो जावे कि विकल्पों का होना बन्द हो जावे, मानो मन मर ही जावे और उपयोग अपनी मातृभूमि आत्मा की सत्ता में

ही बन जावे, इसे ही निश्चय या अभेदरत्नत्रय कहते हैं। जिस महापुरुष की प्रवृत्ति इस अभेदरत्नत्रयस्वरूप स्वानुभव में होगी वह अवश्य कर्मों का नाशकर एक दिन मुक्ति का भाजन हो जायेगा, इसमें कुछ भी शंका नहीं है। पर जिसकी व्यवहार धर्म, तप व व्रत आदि में चलते हुए भी अभेद रत्नत्रय के स्वरूप में थिरता नहीं है, वह कभी भी मुक्ति को नहीं पा सकता क्योंकि उसके वह परम पूजनीय वीतरागता ही नहीं होती जो कर्मों की निर्जरा कर सके। तात्पर्य यह है कि जो स्व कल्याण करना चाहे उसे जिस तरह भी बने उस तरह अपने स्वरूप में निश्चलता करनी चाहिए और स्वानुभव का परमानन्द प्राप्त करना चाहिए।

आगे की उत्थानिका—आचार्य कहते हैं कि अपने स्वरूप में चित्त-निश्चलता के साथ प्रवृत्ति उसी वक्त होगी जब लोगों के साथ मिलना-जुलना छोड़कर आत्मस्वरूप का अनुभव किया जावे। बिना जन-संसर्ग छोड़े स्वानुभव न होगा और बिना स्वानुभव के मुक्ति का समर्थ कारण न बनेगा—

श्लोक—जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

अन्वयार्थ—(जनेभ्यो) मनुष्यों के साथ संगम होने से (वाक्) वचन की प्रवृत्ति होती है, (ततः) उस वचन विलास से (मनसः) मन की (स्पन्दः) चंचलता होती है और (तस्मात्)उस चंचलता से (चित्तविभ्रमाः) मन में नाना प्रकार के विकल्प (भवन्ति) होते है (ततः) इसीलिए (योगी) ध्यान करने का इच्छुक योगी (जनैः) मनुष्यों के साथ (संसर्गं) संपर्क को (त्यजेत्) छोड़ देवे।

भावार्थ—यहां पर आचार्य कहते हैं कि स्वानुभव का उपाय अपने चित्त की वृत्ति को आत्मा के स्वरूप में तन्मय करना है। चित्त बहुत चंचल है और जब इसके आकर्षण के कारण दूसरे नहीं होते तभी यह अपने स्वरूप के अनुभव में तन्मयता करता है। यदि कोई साधक मनुष्यों

से वार्तालाप करेगा तो उसका उपयोग अवश्य चंचल होगा, मन की चंच-लता से अनेक संकल्प-विकल्प उठेंगे और फिर वह योगी ध्यान व स्वानु-भव करने में असमर्थ हो जायेगा इसीलिए योगी को मनुष्यों की संगति व उनसे वचनालाप का त्याग करना चाहिए। इस कथन से यह भी समझना चाहिये कि जिन-जिन कारणों से मन की चंचलता हो, उन-उन कारणों का छोड़ना साधक के लिए कार्यकारी है।

साधक को निर्जन एकान्त स्थान में बैठकर ध्यान करना चाहिये। वह स्थान कोई वन, पर्वत, गुफा, उपवन, नसियां वा जिनमंदिर आदि होना चाहिये। जहाँ ध्यान करे वहाँ स्त्री, नपुंसक एवं पशु आदि चित्त-क्षुब्ध करने वालों का आना-जाना नहीं होना चाहिये। निराकुल स्थान के बिना मन निराकुल नहीं हो सकता और यही कारण है कि वन, पर्वत आदि में ध्यान करने के लिए निवृत्ति-मार्ग का आलम्बन करने वाले मुनि, ऐलक व क्षुल्लक आदि त्यागी-पुरुष जनसंसर्ग को त्याग देते हैं। वे इसी-लिए ही परिग्रह का त्याग करते हैं और आरंभ के कार्यों से निवृत्ति कर लेते हैं। जितना अधिक बाहरी सम्बन्ध जिस जीव के होगा उतने ही अधिक विचार व संकल्प-विकल्प उसकी बुद्धि में झलकेंगे अतएव अभ्यास करने वाले को उचित है कि निर्जन स्थान में ही ठहरकर स्वानुभव का अभ्यास करे। ऐसा ही श्री पूज्यपाद स्वामी ने अपने 'इष्टोपदेश' ग्रंथ में कहा है—

श्लोक—इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं जनितादरः।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतं ॥४०॥

भावार्थ—तत्त्वज्ञानी एकान्त में ही रहना चाहता है। उसको इसी बात का आदर है कि मनुष्य की भीड़ उसके पास न होवे एवं अपने प्रश्नों से आकुलता न उपजावे तथा उसे इतना अधिक आत्मप्रेम रहता है कि प्रयोजन के वश से यदि कुछ कहना भी पड़े तो कहकर शीघ्र ही वह उस बात को भूल जाता है।

तात्पर्य यह है कि योगी को जनसमुदाय से वार्तालाप करना छोड़ देना चाहिये।

आगे की उत्थानिका---यहाँ शिष्य शंका करता है कि तब क्या मनुष्यों का संगम छोड़कर तत्त्वज्ञानी को जंगल में रहना चाहिये ? अब इसका समाधान आचार्य करते हैं--

श्लोक--ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासो नात्मदर्शिनाम् ।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ।।७३।।

अन्वयार्थ--(अनात्मदर्शिनाम्) जिन्होंने आत्म-स्वरूप के अनुभव की प्राप्ति नहीं की है उन्हें ही ऐसा विकल्प होता है कि (ग्रामः) गांव व (अरण्यम्) वन-(इति) इस तरह (द्वेधा) दो प्रकार के (निवासः) निवास होते हैं (तु) पर (दृष्टात्मनां) जिन्होने आत्मा के स्वरूप का अनुभव कर लिया है उनका (निवासः) रहने का स्थान तो (निश्चलः) निश्चल अर्थात् चित्त की आकुलता रहित एवं (विविक्तात्मा एव) विविक्त अर्थात् रागादि रहित विशुद्ध आत्मा ही होता है।

भावार्थ--यहाँ पर आचार्य शिष्य को फिर निश्चयमार्ग में जमे रहने की शिक्षा देते हैं कि यद्यपि अभ्यास करने वाला साधक एकांत स्थान में रहता है तथापि उस स्थान को वह केवल निमित्तमात्र जानता है। निश्चय से वह अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभव में तिष्ठना ही अपना निवास समझता है क्योंकि आत्मा में स्थितिरूप चारित्र से ही सुख शांति का लाभ होता है तथा कर्मों की निर्जरा होती है। जो स्वरूपानुभव के आनन्द के भोक्ता व स्वरसास्वादी हैं, उन्हें अपने स्वरूप में तिष्ठना ही इष्ट होता है और मात्र इसी उद्देश्य से वे ऐसे योग्य स्थान में ठहरते हैं जहाँ निराकुलता रहे। ऐसा नहीं है कि ग्राम में रहने से तो आत्मविचार नहीं होता व जंगल में रहने से हो जाता है। बिना उपादान कारण के केवल निमित्त कुछ नहीं कर सकता। प्रयोजन कहने का यही है कि तत्त्वज्ञानी को बाहरी अनुकूल निमित्तों को मिलाकर जिस तरह भी बने उसी तरह अपने आत्म-

स्वरूप के अनुभव में लवलीन होने का प्रयत्न करना चाहिये।

आगे की उत्थानिका—अब आचार्य बताते हैं कि जो आत्मानुभवी हैं उन्हें अंत में क्या फल होता है व जो आत्मज्ञानी नहीं किन्तु मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हें क्या फल होता है—

श्लोक—देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

अन्वयार्थ—(अस्मिन् देहे) कर्मों के उदय से ग्रहण किये हुये इस शरीर में (आत्मभावना) आत्मा की इस रूप भावना करना कि यह शरीर है सो ही मैं हूं तथा इसके सिवाय अन्य कोई शुद्ध, बुद्ध, वीतराग व अमूर्त्तिक आत्मा मैं नहीं हूं, (देहान्तरगते) अन्य जन्म में भी देह के प्राप्त होते रहने का (बीजं) कारण है। इसके विरुद्ध (आत्मनि एव) आत्मा के स्वरूप में ही (आत्मभावना) आत्मपने की इस तरह भावना करना कि परमात्मा के समान जो कोई शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी एक चैतन्य पदार्थ है सो ही मैं हूं, (विदेह निष्पत्ते) देहरहित होकर मुक्ति प्राप्त करने का (बीजं) कारण है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य महाराज ने बताया है कि जो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी संसार शरीर भोगों में आसक्त संयमरहित बहिरात्मा है वह पंचेन्द्रिय के भोगों की लोलुपता के कारण जब-जब जिस-जिस शरीर में होता है तब-तब ऐसे ही कर्मों का बंध करता है जिससे उसे दूसरी देह को धारण करना पड़े। शरीर का ममत्व ही बार-बार शरीर ग्रहण करने का कारण है और ऐसा ठीक भी है क्योंकि जो जिससे प्रेम करता है उसे उसी का ही संगम प्राप्त होता है। मिथ्यादृष्टि के अनादि-अनंत संसार की परिपाटी चलते रहने का यही बीज है।

जो सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी और सम्यक्चारित्रवान् अंतरात्मा होते हैं वे अपने स्वरूप को निरंतर पांचों ही तरह के शरीरों से भिन्न तथा कर्मों के उदय से अपने अंदर होने वाले विकारों से भी जुदा समझते हैं, जिससे उनके दिल में सदा ही ऐसी भावना होती है कि 'मैं केवल एक अकेला

वह चैतन्य हूं जिसमें किसी भी अन्य आत्मा की, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल आदि द्रव्यों की तथा उनके किसी भी विशेष गुण की सत्ता नहीं है। मेरी आत्मा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल तथा स्वभाव की अपेक्षा गुप्तस्वरूप ही है। इस मेरे चैतन्य-स्वरूप में मुझसे भिन्न अन्य सम्पूर्ण पदार्थों का द्रव्य क्षेत्र काल भाव नहीं है। अतीन्द्रिय आनंद एवं वह अद्भुत शांति भी मेरी आत्मा में स्वाभाविक रीति से वास करती है जो सांसारिक सुख से विलक्षण और परम निराकुल है। इस तरह स्वस्वरूप में अपनेपने की भावना वीतराग भाव को बढ़ाती है और रागादिक भावों को नष्ट करती है जिससे पूर्वबद्ध कर्म निर्जरते हैं और नवीन कर्मों का आस्रव या तो होता ही नहीं अथवा अति अल्प होता है। स्वरूप के सतत अभ्यास व ध्यान का अंतिम फल यह होता है कि यह आत्मा मुक्त हो जाता है। देह से वैराग्य होने के कारण इसका देह से सम्बन्ध छूट जाता है क्योंकि यह नियम ही है कि जो जिससे उदास हो जाता है वह एक दिन उसकी संगति से बिल्कुल अलग हो जाता है। तात्पर्य यह है कि संसार के दुःखों से बचने व सुख शांति का लाभ करने के लिये हमें निरंतर शुद्ध निश्चय-नय के द्वारा अपनी आत्मा की शुद्धता की भावना करनी चाहिये।

आगे की उत्थानिका—शिष्य प्रश्न करता है कि जिस आत्मज्ञान व आत्म-भावना से यह जीव दुःखों से छूट जाता है उस आत्मज्ञान के लिये किसी गुरु की तो आवश्यकता होनी ही चाहिए, बिना गुरु के आत्मज्ञान कौन बतावे ? इसका समाधान आचार्य करते है—

श्लोक—नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव च ।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥

अन्वयार्थ—(आत्मा एव) देह आदि पर-पदार्थों में अपनेपने की भावना की दृढ़ मिथ्याबुद्धि के वश से आत्मा ही (आत्मानम्) अपने आपको (जन्म) संसार में (नयति) ले जाता है अर्थात् जन्म-जन्मांतर में भ्रमण कराता है (च) तथा वही आत्मा अपनी आत्मा में ही अपनेपने की बुद्धि की महिमा के वश से अपने को (निर्वाणं एव) निर्वाण में ले जाता है

अर्थात् कर्मों से छुड़ा लेता है (तस्मात्) अतः (परमार्थतः) निश्चय से (आत्मनः) आत्मा का (गुरुः) गुरु अर्थात् हितकारी शिक्षक वा प्रवर्त्तक (आत्मा) आत्मा ही है (अन्यः न अस्ति) दूसरा कोई नहीं (व्यवहार से कोई अन्य जीव निमित्तमात्र हो तो हो।)

भावार्थ--यहाँ शिष्य को अपनी आत्मोन्नति के लिए अपने ही ऊपर भरोसा रखने की दृढ़ता कराने के हेतु से आचार्य कहते हैं कि इस आत्मा का बुरा वा भला इसके अपने ही हाथ में है, दूसरा तो केवल निमित्तमात्र है क्योंकि यदि कोई हमें कुमार्ग पर चलने की शिक्षा दे परन्तु हम उसे ग्रहण न करें तो हमारा बुरा न होगा पर जब उस बुरी बात को मानकर हम उस पर चलेंगे तभी हमारा बुरा होगा। इसी तरह यदि कोई गुरु हमें बार-बार सुशिक्षा तो दे परन्तु हम उस शिक्षा को ग्रहण करके उस पर न चलें तो हमारा कुछ भी भला न होगा पर यदि हम उसका ग्रहण कर उस पर चलेंगे तो हमारा भला होगा। अतः निश्चय से यही ठीक है कि हमारा बुरा वा भला हमारे अपने ही आधीन है। हम यदि अपनी आत्मा को शरीररूप व रागी, द्वेषी, मोही आदि नाना पौद्गलिक अवस्थारूप मानेंगे तथा इंद्रियों के विषयों में आसक्त होंगे तो तीव्र कर्म बांधकर संसार में भ्रमेंगे और यदि अपने स्वरूप को समझकर अपनी आत्मा को अन्य अनात्मरूप सर्व परद्रव्यों से भिन्न और अपने शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा, आनंदमय स्वभाव का धारी व सिद्धसम माने तथा अनुभव करेंगे तो वीतरागभाव के प्रभाव से अवश्य ही कर्मों की निर्जरा तथा संवर करेंगे जो कि मोक्ष का हेतु है। उसी शुद्ध आत्मभावना के बल से हम स्वयं को कर्मों से बिल्कुल छुड़ाकर मुक्त कर लेंगे। इस हेतु से निश्चय से यही बात ठीक है कि आत्मा का गुरु आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं। अतएव हमें आत्म-भरोसा रखकर आचरण करना चाहिये जिससे हम इसलोक व परलोक में सुख के पात्र हों।

आगे की उत्थानिका--आगे कहते हैं कि जो देह में ही आत्मपने की बुद्धि रखता है वह मरण निकट आने पर क्या विचार करता है--

श्लोक—दृढ़ात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद्भृशम् ।।७६।।

अन्वयार्थ—(देहादौ) शरीर आदि पदार्थों में (दृढ़ात्मबुद्धिः) दृढ़ता से आत्मपने की बुद्धि रखने वाला बहिरात्मा मृत्यु में (आत्मनः नाशम्) अपना नाश (च) और (मित्रादिभिः वियोगं) मित्रादिकों से वियोग (उत्पश्यन्) देखता हुआ (मरणात्) मरण से (भृशम्) अतिशय करके (विभेति) डरता है ।

भावार्थ—'शरीरादि व रागद्वेषादि भावों में आत्मा है' ऐसा समझने वाला क्योंकि भिन्न आत्मा की प्रतीति नहीं रखता है इसी से उसके संसार व पंचेन्द्रिय के विषयों में तीव्र राग होता है । वह उन सब पदार्थों से प्रेम करता है जो शरीर व इन्द्रियों को रोचक मालूम होते हैं । वर्तमान जीवन उसे बहुत ही प्यारा लगता है अतः वह सदा ही जीवित रहना चाहता है और मरने से डरता रहता है कि कहीं मरण हो जायेगा तो ये धन, सम्पदा, स्त्री, पुत्र और मित्रादि छूट जायेंगे । बहिरात्मा मरने के भय से सदा आकुलित रहता है और इस लोभ से कि मेरा मरण न हो, नाना प्रकार के अयोग्य उपाय भी करने लगता है । उसके चित्त में कायरभाव रहता है, वीरता नहीं रहती । जैसे कोई कायर योद्धा युद्ध में जाते हुये शत्रु से भय करता है वैसे ही अज्ञानी बहिरात्मा जीव मरण से भय किया करता है । तात्पर्य यह है कि ज्ञानी को मरने से नहीं डरना चाहिये क्योंकि मरण से केवल शरीर का ही तो परिवर्तन होता है, आत्मा तो अविनाशी होने के कारण सदा बना ही रहता है ।

आगे की उत्थानिका—जिसका अपनी आत्मा के स्वरूप में ही अपनापना है ऐसा अंतरात्मा मरण के निकट आने पर क्या मानता है, इस बात को आचार्य कहते हैं—

श्लोक—आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः ।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रांतरग्रहम् ।।७७।।

अन्वयार्थ--(आत्मनि एव) आत्मा के सच्चे स्वरूप में ही (आत्मधीः) आत्मपने की बुद्धि रखने वाला अंतरात्मा (निर्भयं) निर्भय रूप से (शरीरगति) शरीर की अवस्था को अर्थात् मरण को व बाल, युवा, वृद्धादि अवस्थाओं को (आत्मनः अन्यां) आत्मा से भिन्न और (वस्त्रं त्यक्त्वा) एक वस्त्र को छोड़कर (वस्त्रान्तरग्रहम्) अन्य दूसरे वस्त्र को ग्रहण करने के समान (मन्यते) मानता है।

भावार्थ---अंतरात्मा को अपनी आत्मा के अविनाशीपने पर पूर्ण विश्वास होता है और शरीर को वह आत्मा के रहने की एक झोंपड़ी मात्र मानता है। वह क्योंकि शरीर के बिगाड़ वा मरण को केवल झोंपड़ी का बिगाड़ वा नष्ट होना मानता है इससे उसे मरण को वैसे ही कोई शंका व भय नहीं होता जैसे एक वस्त्र को बदलकर दूसरा वस्त्र पहनने में किसी व्यक्ति को न तो किसी प्रकार का भय होता है और न शंका। और जिस वस्तु को वह अपनी मानता है, उसका न तो नाश है और न बिगाड़ ही है। 'शरीर की उत्पत्ति और विनाश में आत्मा का जन्म और नाश नहीं होता' इस बात का अंतरात्मा को पूर्ण निश्चय होता है। उसे पुद्गल के कैसे भी परिणमन से किसी प्रकार का कोई खेद नहीं होता। वह वस्तु-स्वरूप का विचार कर निश्चित रहता है और अपनी शांति में कोई विघ्न नहीं लाता।

आगे की उत्थानिका---अब आचार्य कहते हैं कि इस तत्त्वज्ञान को बात को वही जानता है जिसका व्यवहार-कार्यों में अनादर है पर जो व्यवहार में आदरवान् है वह इस निश्चयस्वरूप को नहीं समझता--

श्लोक---व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्तिव्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥

अन्वयार्थ---(यः) जो कोई (व्यवहारे) व्यवहार में अर्थात् लेने-धरने आदि के विकल्पों में, शरीरादि जड़ वस्तुओं व उसकी पर्यायों में एवं व्यापार-वणिज आदि में (सुषुप्तः) सोया हुआ है अर्थात् उनमें अंतरंग से

रागी नहीं है किन्तु विरागी है (सः) वह (आत्मगोचरे) आत्मा के स्वरूप में (जागर्ति) जाग रहा है अथवा उसी के अनुभव में रुचिवान् है (च) तथा (अस्मिन् व्यवहारे) इस जगत् के व्यवहार में जो (जागर्ति) जाग रहा है अर्थात् भली प्रकार सावधान व तन्मय है वह (आत्मगोचरे) आत्मा के अनुभव में (सुषुप्तः) सोया हुआ है, गाफिल है।

भावार्थ-यहां पर आचार्य कहते हैं कि जो अपनी आत्मा के स्वरूप में सावधान है अर्थात् जिसे अपनी शुद्ध आत्मा का श्रद्धान तथा अनुभव है उसका नियम से अपने आत्मस्वरूप के सिवाय अन्य शरीरादि परद्रव्यों में व उनके लिए होने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवहार में अनादर, अप्रीति व अनासक्त भाव होता है और इसी कारण वह जब स्वात्मानुभव करना चाहता है तब बड़ी सुगमता से अपना उपयोग अपने चैतन्यस्वरूप में जोड़ देता है और जब वह स्वानुभव नहीं भी करता है तब भी आत्मरुचिवान् रहकर शरीर और वचन से आवश्यक व्यवहार को करता हुआ, मन से उसमें आसक्त नहीं होता। इसी से यह बात कही गई है कि जो व्यवहार मे सोया हुआ है वह आत्मा के स्वरूप में जागता है तथा जिसका मन व्यवहार में जाग रहा है अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र व शरीरादि की चिन्ताओं में उलझा हुआ है और उन्हीं के भीतर जो आसक्त है, वह नियम से आत्मरुचि से खाली है अतः वह आत्मा की अपेक्षा सोया हुआ है और आत्मस्वरूप के श्रद्धान, ज्ञान व अनुभव में अत्यंत गाफिल है।

आगे की उत्थानिका---आगे कहते हैं कि जो अपनी आत्मा के स्वभाव में जागता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है-

श्लोक---आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥७९॥

अन्वयार्थ-(आत्मानम्) अपनी आत्मा के असली स्वरूप को (अंतरे) अपने भीतर (दृष्ट्वा) देखकर तथा (देहादिकं) शरीर आदि पर-वस्तुओं को (बहिः) अपनी आत्मा से बाहर (दृष्ट्वा) देखकर (तयोः) इन दोनों

के (अन्तर विज्ञानात्) भेद-विज्ञान होने से तथा (अभ्यासात्) उस भेद-विज्ञान का बार-बार अभ्यास करने से जीव (अच्युतो) मुक्त (भवेत्) हो जाता है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य महाराज ने मुक्ति का उपाय बताया है। यह बात सदा ही ध्यान में रखनी चाहिए कि मुक्ति का साधन इस जाति का है कि उसे करने से तत्क्षरण, उसी समय सुख व शांति का लाभ होता है, अनेक कर्मों की निर्जरा हो जाती है तथा बहुत सी कर्म-प्रकृतियों के आस्रव का निरोध होता है। ऐसा सुन्दर साक्षात् सिद्धि का देने वाला उपाय यह है कि पहले हम षट् द्रव्यों के स्वरूप को अच्छी तरह पहिचानें अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल को अलग-अलग जानें और शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से इनके स्वरूप का मनन करें। ऐसा करने पर ही हमें इनका भिन्न-भिन्न स्वभाव मालूम होगा और किसी और को कुछ का कुछ समझने का भ्रम मिटेगा। उसी समय हम व्यवहार में कही जाने वाली इन बातों का मतलब समझेंगे कि 'हम क्षत्रिय हैं, पंचेन्द्रिय हैं, रोगी हैं, बलवान् हैं, सेठ हैं, रागी हैं, भयवान् है, क्रोधी हैं, शोकाकुल हैं, दुःखी हैं व सुखी हैं' तथा तभी हमारी समझ में आयेगा कि हमारा यह सब कहना व्यवहार है क्योंकि आत्मा का स्वभाव इन नामों से कहे जाने योग्य नहीं है। आत्मा तो शुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावमयी है और क्रोधादि विकारों व शरीर, इंद्रिय आदि पौद्गलिक सम्बन्धों से बिल्कुल रहित है। उसके साथ जो कर्मों का सम्बन्ध है उसके कारण शरीर व इंद्रिय आदि और क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, शोक आदि कषायों के विकारों का झलकाव उसमें होता है पर ये सब अवस्थायें पुद्गल की हैं, आत्मा की नहीं।

इस प्रकार जब आत्मा की सत्ता अन्य सर्व आत्माओं व द्रव्यों से निराली मालूम हो जाती है व उसका स्वभाव शुद्धज्ञानानंदमय झलक जाता है तब जीव को आत्मा और अनात्मा का भेदविज्ञान हो जाता है। इस भेदविज्ञान के एक बार होने मात्र से कार्य की सिद्धि नहीं होती किन्तु उसी की बार-बार भावना करनी चाहिए अर्थात् चिरकाल तक अपनी

आत्मा के स्वरूप की भिन्नता का विचार करना चाहिए। ध्यान व अनुभव आदि के द्वारा आत्मा को निरंतर भिन्न विचारना चाहिए। इस तरह विचारते-विचारते वीतरागता बढ़ती जाती है और जैसे-जैसे वीतरागता बढ़ती है वैसे-वैसे जीव उसका अधिक-अधिक अभ्यास करता है तथा इसी अभ्यास के लिए ही वह श्रावक व मुनिव्रत का आचरण करता है, जिससे मन की निराकुलता बढ़े और यह मन स्वरूप में अधिकाधिक रम सके। इस तरह निरंतर अभ्यास के बल से वह चार घातिया कर्मों को नाशकर केवलज्ञानी हो जाता है और परमपद की प्राप्ति कर मुक्त हो जाता है। मुक्ति होने का यह प्रकार है।

आगे की उत्थानिका—जिसे देह और आत्मा का भेद-ज्ञान हो गया है वह योगाभ्यास के आरम्भ में जगत को कैसा देखता है तथा जब योगाभ्यास में निपुण हो जाता है तब उसे जगत कैसा दीखता है, वही बताते हैं—

श्लोक--पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात्काष्ठपाषाणरूपवत् ॥८०॥

अन्वयार्थ—(दृष्टात्मतत्त्वस्य) जिसने आत्मतत्त्व का निश्चय कर लिया है ऐसे तत्त्वज्ञानी को (पूर्वं) पहले अर्थात् योगाभ्यास शुरू करने के समय (जगत्) यह जगत् अर्थात् जगत के प्राणी (उन्त्तवत्) नाना प्रकार के बाहरी विकल्पों से भरपूर पागल व्यक्ति की तरह (विभाति) प्रतिभासित होते हैं और (पश्चात्) पीछे, योगाभ्यास में निपुण हो जाने पर (स्वभ्यस्तात्मधियः) आत्मा के स्वरूप की भली प्रकार भावना कर लेने वाले को यह जगत (काष्ठपाषाणरूपवत्) काष्ठ वा पत्थर के स्वभाव के समान मालूम होता है।

भावार्थ—जो पहला तत्त्वज्ञानी है उसे क्योंकि अपने स्वरूप का अत्यन्त निश्चल अनुभव नहीं है इससे उसका ध्यान जब जगत पर जाता है तो यह जगत उसे आत्मज्ञानशून्य, अशुभ व शुभक्रिया से परिपूर्ण एवं

बुरा मालूम होता है पर पीछे जब उसे आत्मस्वरूप का निश्चलता से अनुभव हो जाता है तब जगत सम्बन्धी कोई चिन्ता नहीं रहती। तब वह जगत के प्राणियों की परवाह नहीं करता और परम उदासीनभाव-रूप परिणमन करता हुआ जगत को काष्ठ, पाषाण के समान अपने-अपने स्वरूप के आधीन देखता है।

यहाँ पर आचार्य श्री ने सरागता व वीतरागता का कुछ चित्र सा खींचा है और यह बताया है कि जो आत्मा और अनात्मा का भेद समझ करके श्रद्धायुक्त हो गया है, वह आत्मा के अनुभव का अभ्यास शुरू करता है। जब तक चिरकाल अभ्यास नहीं होता तब तक सरागभाव रहता है और उस सरागभाव से वह अपने चारों तरफ जब जगत् के प्राणियों को देखता है तो अपने से उनका मिलान करते हुए स्वयं को तो समझदार और उन्हें नासमझ उन्मत्त के समान समझता है। वह देखता है कि 'ये जगत के प्राणी कैसे मूर्ख व अज्ञानी हो रहे है कि इन्हें अपनी आत्मा के स्वरूप की बिल्कुल खबर नहीं है। उपदेश सुनने पर भी ये कुछ नहीं समझते और अशुभ भावों में तथा कुछ शुभ भावों में लीन हो रहे हैं। ये रात-दिन आगामी पाप-पुण्य कमा रहे है और पूर्व कमाई का सुख दुःख भोग रहे है।' जगत का प्रेम उसके दिल में जगता है, जिससे जगत के हित की चिंता करता हुआ वह अनेक विकल्पों में फंस जाता है।

जब तत्वज्ञानी को आत्मानुभव का बहुत काल तक अभ्यास हो जाता है तब उसके भावों में वीतरागता बढ़ जाती है और उदासीनता छा जाती है जिससे वह बाहरी जगत से उदास हो जाता है तथा वस्तुस्वरूप के मनन की कला में अति चतुराई पा लेता है। तब वह जगत के प्राणियों से किसी प्रकार का कोई राग द्वेष नहीं करता और अपने आपको अपने व उनको उनके स्वरूप में देखता है। जैसे काठ वा पाषाण का टुकड़ा जड़-स्वरूप उदासीन मालूम होता है उसी तरह सम्पूर्ण चेतन व अचेतन पदार्थ उसे उदासीन मालूम होते हैं। वह उन पर रागद्वेष नहीं करता और वस्तुस्वरूप को बिचारते-बिचारते जब समता को प्राप्त हो जाता है

तब साम्यभाव एवं शांति का ही दृश्य उसे हर जगह मालूम होता है। यही स्वानुभव की महिमा है।

आगे की उत्थानिका–यहां शिष्य शंका करता है कि आपने आत्मा के भली प्रकार अभ्यास की जो बात कही सो व्यर्थ मालूम होती है क्योंकि 'शरीर से आत्मा का स्वरूप भिन्न है' ऐसा चैतन्य-स्वरूप के ज्ञानियों द्वारा सुने जाने से अथवा दूसरों को भिन्न आत्मा के स्वरूप का व्याख्यान करने से ही मुक्ति हो जायेगी, अभ्यास करने की कोई आवश्यकता नहीं है ? अब इस शंका का आचार्य समाधान करते हैं–

श्लोक--शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात् ।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥८१॥

अन्वयार्थ–(अन्यतः) गुरु आदि के द्वारा (कामं) अतिशय करके, भिन्न आत्मा का स्वरूप (शृण्वन्नपि) सुनने पर भी तथा (कलेवरात्) मुँह से उसे (वदन्नपि) कहने पर भी (यावत्) जब तक (आत्मानम्) आत्मा को (भिन्नं) सर्व पर अनात्माओं से भिन्न (न भावयेत्) नहीं भाया जाता (तावत्) तब तक जीव (मोक्षभाक् न) मोक्ष का पात्र नहीं हो सकता।

भावार्थ--आचार्य शिष्य को कहते हैं कि मोक्ष की सिद्धि के लिये चारित्र की अतिशय आवश्यकता है। बिना आत्मानुभव के अभ्यास के वीतरागता की वृद्धि नहीं हो सकती और बिना वीतरागता के कर्मों का नाश नहीं हो सकता। जैसे यदि कोई किसी बात को मात्र जाने व श्रद्धान करे परन्तु उसका अभ्यास न करे तो उसके उस कार्य की सिद्धि नहीं होती वैसे ही यदि कोई आत्मा-अनात्मा के भेदज्ञान की कथनी तो खूब सुने व दूसरों को भी खूब कहे पर आत्मा के स्वरूप का विकल्प ही करता रहे और निश्चिन्त होकर उसका अनुभव न करे अर्थात् कहना सुनना छोड़कर अपना उपयोग आत्मा के स्वरूप में न लगावे तो उसे कभी स्वात्मानुभव न होगा और स्वात्मानुभव के बिना कभी भी वीतरागभाव न होगा। अतः शिष्य को उचित है कि सदा ही आत्मा का चिन्तवन, मनन व अनु-

भव करने का अभ्यास करे, केवल उसका स्वरूप जानकर ही संतुष्ट न हो जावे। तत्त्वज्ञानी को पहले तो श्रावक और फिर मुनि के व्रतों के द्वारा उस समय तक आत्मानुभव का अभ्यास करते जाना चाहिये जब तक केवलज्ञान न हो जावे। जैसे अशुद्ध सुवर्ण को अग्नि में उस समय तक तपाते रहते हैं जब तक उससे मैल बिल्कुल पृथक् न होकर वह शुद्ध सुवर्ण नहीं हो जाता वैसे ही अशुद्ध आत्मा को आत्मानुभव रूपी ध्यान में उस समय तक बराबर तपाना चाहिए जब तक कि वह कर्मों से बिल्कुल छूटकर शुद्ध न हो जावे।

आगे की उत्थानिका—आत्म-भावना का अभ्यास करने में जो प्रवर्ते उसे क्या करना चाहिए, यह बताते हैं—

श्लोक—तथैव भावयेद्देहाद् व्यावृत्यात्मानमात्मनि।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत्॥८२॥

अन्वयार्थ—(देहात्) इस शरीर से (आत्मानं) अपने स्वरूप को (व्यावृत्य) अलग करके (आत्मनि) अपनी आत्मा के भीतर (तथैव) उस तरह (भावयेत्) भावे अर्थात् 'यह आत्मा पुद्गलादि सर्व जड़ पदार्थों से व रागादि अवस्थाओं से भिन्न है' ऐसी दृढ़तर भावना करे (यथा पुनः) जिससे फिर कभी (स्वप्नेऽपि) स्वप्न की अवस्था में भी (देहे) शरीर के स्वरूप में (आत्मानं) आत्मा को (न योजयेत्) न जोड़े अर्थात् स्वप्न में भी कभी देह को आत्मा न माने।

भावार्थ—यहाँ आचार्य कहते है कि जैसे पुनः पुनः रटने से कोई पाठ कंठस्थ होकर ऐसा जम जाता है कि फिर कभी भूलता नहीं अथवा जैसे किसी बालक को किसी नाम से बार-बार पुकारने से वह नाम उस बालक के लिए तुरन्त याद आ जाता है वैसे ही एक बार आत्मा का भिन्न स्वरूप जानने के बाद उसकी बारम्बार भावना करने से ही उसमें मजबूती आती है। चिरकाल अभ्यास में बड़ी भारी शक्ति है। अनादिकाल से जब हम आत्मा के शुद्ध ज्ञातादृष्टा स्वरूप को नहीं जानते और उसे रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी, स्त्री, पुरुष, नपुंसक व बालक आदि अवस्था रूप ही मान

रहे हैं तब मात्र एक बार उसके वास्तविक स्वरूप का निश्चय हो जाने पर हमारी धारणा पक्की कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती इसीलिए एक बार उसका निश्चय कर लेने के बाद भी हमें पुनः-पुनः उसे विचारना चाहिये जिससे वह बुद्धि में ऐसा जम जावे कि यदि स्वप्न में भी कभी आत्मा का स्वरूप याद आवे तो वह वैसा ही याद आवे जैसा कि वह है।

चैतन्य-स्वरूप के चिरकालीन अभ्यास से ही क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है और तब फिर ऐसा श्रद्धान हो जाता है जो कभी भी नष्ट नहीं होता। दृढ़तर श्रद्धान हो जाने पर भी आत्मा में निश्चल स्थिति प्राप्त करने के लिए अर्थात् यथाख्यात चारित्र के लिए हमें चेतना के सच्चे स्वरूप की भावना करनी चाहिए। जैसे वृक्ष की बार-बार रगड़ खाने से अग्नि पैदा हो जाती है वैसे ही आत्मा की बार-बार भावना करने से आत्मा का परमात्मस्वरूप प्रकट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि भेद-ज्ञानी पुरुष को प्रमाद छोड़कर निज चैतन्यस्वरूप की निरंतर भावना करनी चाहिए।

आगे की उत्थानिका—आगे आचार्य कहते हैं कि परम उदासीन अवस्था में जैसे स्व-पर के विचार का विकल्प छोड़ना उचित है वैसे ही व्रतों के पालने का विकल्प भी छोड़ना उचित है–

श्लोक–अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥

अन्वयार्थ—(अव्रतैः) हिंसादि पांच अव्रतों के द्वारा (अपुण्यम्) पाप-बंध तथा (व्रतैः) अहिंसादि पांच व्रतों के विकल्प में परिणमन करने से (पुण्यं) पुण्य बंध होता है और (तयोः) इन पाप व पुण्य दोनों कर्मों के (व्ययः) नष्ट हो जाने से (मोक्षः) मोक्ष होता है। पाप-बंध लोहे की और पुण्य-बंध सुवर्ण की बेड़ी है तथा मुक्ति इन दोनों ही बेड़ियों के कटने से होती है (ततः) इसीलिए (मोक्षार्थी) जो संसार से मुक्ति चाहता है वह

(अव्रतानीव) अव्रतों के समान अर्थात् जैसे अव्रतों को छोड़े वैसे (व्रतान्यपि) व्रतों को भी (त्यजेत्) छोड़ देवे ।

भावार्थ—इस जगत में आत्मा का कर्मों के साथ बंध का कारण कषायभाव है फिर चाहे वे कषाय भाव तीव्र हों चाहे मन्द । तीव्र कषाय में यह प्राणी अपने अशुभ संक्लेश रूप परिणामों से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह आदि अव्रतों में प्रवृत्ति करता है जिससे पाप बांधकर उसके फल के रूप में अनेक असाताकारी सम्बन्धों को प्राप्त हो जाता है । मंद कषाय में जीव अपने विशुद्ध परिणामों से श्रावक अवस्था में हिंसादि पापों का एकदेश त्याग करके पांच अणुव्रतों का पालन करता है अर्थात् जीव-दया पालता है, सत्य बोलता है, चोरी न करके न्याय से पैसा कमाता है, अपनी स्त्री में संतोष रखके पर-स्त्री व वेश्यादि के प्रसंग से बचता है और परिग्रह में अधिक ममत्व न करके उसका परिमाण करता है और फिर हिंसादि पापों का सर्वदेश त्यागकर मुनि अवस्था को धारण कर पांच महाव्रतों का पालन करता है और पुण्य कर्मों को बांधता है ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय—ये कर्मों की आठ मूल प्रकृतियाँ हैं । इनमें से प्रारम्भ की चार घातिया और बाद की चार अघातिया कहलाती हैं । आत्मा के स्वरूप का जो घात करें उन्हें घातिया और जो घात न करें उन्हें अघातिया कहते हैं । घातिया कर्म प्रकृतियाँ सर्वथा पाप रूप ही होती हैं और अघातिया के पुण्य व पाप रूप दो भेद होते हैं । तीव्र व मंद दोनों ही प्रकार के कषाय भावों में घातिया व अघातिया दोनों प्रकार के कर्मों का बंध होता है, अंतर इतना ही है कि तीव्र कषाय में घातिया कर्मों का बंध तीव्र अनुभाग (फलदान-शक्ति) सहित और अघातिया कर्मों की मात्र पाप प्रकृतियों का ही बंध होता है एवं मन्द कषाय में घातिया कर्मों का बंध मंद अनुभाग सहित और अघातिया कर्मों की पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है । यह बंध इस प्राणी के संसार भ्रमण का ही कारण है और मोक्ष अवस्था इन दोनों ही प्रकार के बंधों के छूट जाने से होती है । सर्व भावकर्म, द्रव्यकर्म व नो-

कर्मों का नष्ट हो जाना ही तो मोक्ष है। अतः आचार्य शिक्षा करते हैं कि हे भाई ! यदि तू मोक्ष का अर्थी है तो तू अव्रतों के समान व्रतों के विकल्प को भी छोड़ अर्थात् अशुभ व शुभ सब भावों से हटकर शुद्धोपयोग का अभ्यास कर क्योंकि इसी वीतराग भाव के प्रताप से आत्मा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा तथा नवीन कर्मों का संवर करता है और इस प्रयोग से एक दिन कर्मों की कांचली छोड़कर मुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अंतरात्मा को जिस तरह भी बने उसी तरह शुद्धोपयोग की भावना करनी चाहिए।

आगे की उत्थानिका—'इन विकल्पों के त्याग का क्या क्रम है' ऐसा शिष्य के द्वारा पूछे जाने पर आचार्य कहते हैं—

श्लोक—अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य परमपदमात्मनः ॥८४॥

अन्वयार्थ—(अव्रतानि) पहले हिंसादि पांच पापों को (परित्यज्य) छोड़कर (व्रतेषु) व्रतों में (परिनिष्ठितः) तल्लीन होवे और फिर (आत्मनः) आत्मा के (परमपदं) उत्कृष्ट वीतरागता लक्षणमयी पद को (सम्प्राप्य) प्राप्त करके (तानि अपि) उन व्रतों को भी (त्यजेत्) छोड़ देवे।

भावार्थ—यहां पर आचार्य देव ने निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करने का क्रम बताया है। प्राणी को चाहिए कि वह पहले हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह रूपी पापों को छोड़कर अशुभोपयोग से बचे तथा शुभोपयोग में चलने के लिए जीवदया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप पांच व्रतों का अभ्यास करे परन्तु फिर भी दृष्टि तो शुद्धोपयोग पर ही रक्खे और जब शुद्धोपयोग की प्राप्ति होने लगे तब इन व्रतों के विकल्पों को भी छोड़ दे। वास्तव में सातवें गुणस्थान में पहुंचकर जीव स्वयं निर्विकल्प हो जाता है और आठवें में तो बिलकुल ही विकल्पशून्य हो जाता है। फिर जब यह क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान में पहुंचता है तब एकत्ववितर्कविचार ध्यान में जमने के प्रभाव से घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञानी हो जाता है।

भावार्थ यह है कि आत्मा का मुख्य हित स्वानुभव ही है। यह स्वानुभव चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है। जब-जब अनुभूति दशा होती है तब-तब व्रत व अव्रत का कोई विकल्प नहीं होता परन्तु इस दशा के छूटने पर धर्मात्मा जीवों के अव्रतों का विकल्प न होकर व्रतों का ही विकल्प होता है और जैसे-जैसे स्वानुभव बढ़ता जाता है वैसे-वैसे व्रतों का विकल्प भी मिटता जाता है। जब उपयोग स्वयं में स्थिर हो जाता है तब व्रत-विकल्प बिल्कुल भी नहीं रहता पर जब तक शुद्ध भाव की पूर्णता न हो तब तक व्रतों का आश्रय आवश्यक होता है। तात्पर्य यह है कि मोक्ष के इच्छुक आत्मार्थी को पाप व पुण्य दोनों को त्यागने योग्य समझना चाहिए और शुद्धोपयोग में चित्त को लगाना चाहिए।

आगे की उत्थानिका—शिष्य कहता है कि अव्रत व व्रतों के विकल्पों को छोड़ने से किस तरह परमपद की प्राप्ति होगी ? इसका समाधान आचार्य करते हैं—

श्लोक—यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः ।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ।।८५।।

अन्वयार्थ—(अंतर्जल्पसंपृक्तं) अंतरंग में वचनों के व्यापार सहित (यत्) जो (उत्प्रेक्षा जालं) कल्पनाओं की तरंगों का जाल है सो (आत्मनः) आत्मा के (दुःखस्य) दुःखों का (मूलं) मूल कारण है क्योंकि विकल्पों के कारण निर्विकल्प अवस्था न होने से ही सुख व शांति का लाभ न होकर आकुलता और अशांति होती है। (तन्नाशे) उस विकल्पजाल के नष्ट हो जाने पर ही (इष्टं) आत्मा को परम हितकारी एवं प्यारे (परं पदम्) उत्कृष्ट पद की प्राप्ति होना (शिष्टं) कहा गया है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि जब उपयोग अन्य सब विकल्प-जालों से रहित होकर अपने उस शुद्ध ज्ञानानंदमयी स्वभाव में स्थिर होता है जहां न कुछ सोचना है, न कुछ कहना है और न कुछ करना है, तभी यह अपनी आत्मा के गुणों का विलास करके परम सुख-शांति का उपभोग

करता है। उस समय ही जीव में परम साम्यता व रागद्वेषादि कषायों के उपशमरूप वीतराग भाव जगता है और उसकी वह दशा हो जाती है जो सिद्धावस्था को दर्शाती है। फिर जैसे-जैसे यह अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे-वैसे बाहर व भीतर के वचन-विकल्प छूटते जाते हैं और स्वरूप में थिरता बढ़ती जाती है और इस तरह स्वात्माधीन आनंद को भोगते-भोगते वह जीव उन्नति करता हुआ परमात्मा के परम पद को प्राप्त कर लेता है। कहने का तात्पर्य यही है कि जिस तरह भी बने उसी तरह स्वानुभूति का उपाय करना चाहिए और सर्व विकल्प जालों का त्याग करना चाहिए क्योंकि एक तो इनके होने से आकुलता होती है और दूसरे वीतरागता की प्राप्ति न होकर कर्मों का वह बन्ध होता है जो जीव के संसार-भ्रमण का कारण है।

आगे की उत्थानिका—आत्मोन्नति के अभिलाषी को इन विकल्पों का किस क्रम से नाश करना चाहिए, सो कहते हैं—

श्लोक—अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः ।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ।।८६।।

अन्वयार्थ—(अव्रती) हिंसादि पांच अव्रतों के विकल्प में पड़ा हुआ जीव (व्रतम्) अहिंसादि पांच व्रतों को (आदाय) ग्रहण करके, अव्रतों के विकल्प को नष्ट कर (व्रती) व्रती हो जावे और फिर (ज्ञानपरायणः) आत्म-अनुभव में लीन होकर, ज्ञान-भावना में परिणमन करता हुआ परम वीतराग अवस्था में व्रतों के विकल्पों का भी नाश करे और क्रमशः (परात्मज्ञानसम्पन्नः) सयोगी जिन की अवस्था में उत्कृष्ट आत्मज्ञान अर्थात् केवलज्ञान को प्राप्त करके (स्वयमेव) स्वयं ही अन्य किसी गुरु आदि की अपेक्षा के बिना (परः) उत्कृष्ट परमात्मा सिद्ध (भवेत्) हो जावे।

भावार्थ—विकल्पों की दशा में आत्मा का सच्चा हित नहीं होता अतः आचार्य उन विकल्पों के त्याग का क्रम बताते हैं कि पहले आत्मा-अनात्मा के स्वरूप का सच्चा श्रद्धान करके यह जीव अव्रतों का त्याग

करता है अर्थात् हिंसादि पांच पापों से अपनी भावना को हटाकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह रूप पांच व्रतों की भावना का अभ्यास करता है। इस अभ्यास से कषायों की कालिमा धीरे-धीरे कम होती जाती है पर व्रतों की भावना भी विकल्प ही है, आत्मा की निर्विकल्प अवस्था नहीं, इसी कारण व्रतों को पालते हुए भी मोक्षार्थी नित्य विकल्परहित समाधि में ही स्थिर होने का प्रयत्न किया करता है। फिर जब यह प्रमत्त से अप्रमत्त और अप्रमत्त से प्रमत्त गुणस्थानवर्ती होता हुआ श्रेणी के आठवें, नौवें, दसवे व ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त करता है, तब अपने सारे बुद्धिपूर्वक विकल्पों को दूर करके निर्विकल्प ध्यानलीन आत्मानुभवी हो जाता है। उस दशा में व्रतों को पालने के विकल्प बिल्कुल नहीं रहते। तत्पश्चात् बारहवे क्षीणमोह गुणस्थान में आत्मा की एकाग्रता में लवलीन होता हुआ यह तेरहवे गुणस्थान में केवलज्ञानी सयोगीजिन हो जाता है। और अंत में स्वयमेव ही अपनी स्थिति के पूर्ण होने पर जब आयु कर्म खिर जाता है तब आत्मा सर्व प्रकार के पुद्गलों से रहित होकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है। जिस सिद्ध अवस्था का यह अविरत सम्यग्दृष्टि रूप चौथे गुणस्थान की अवस्था में श्रद्धान कर चुका था, उसे ही धीरे-धीरे अपनी दृढ़ आत्मभावना के प्रताप से प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि व्रतों को पालते हुए भी ज्ञानी उन व्रतों में उपादेय बुद्धि नहीं रखता किन्तु सिद्ध स्वरूप की ही निरंतर भावना किया करता है और इसी कारण वह एक दिन व्रत-विकल्पों को भी त्यागकर निर्विकल्प क्षोभरहित आनन्दमयी हो जाता है।

आगे की उत्थानिका—आगे कहते है कि जैसे व्रतों का विकल्प मोक्ष का कारण नहीं वैसे ही बाहरी भेष का विकल्प भी मोक्ष का कारण नहीं है अतः भेष का अभिमान भी छोड़ने योग्य है—

श्लोक—लिंगं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिंगकृताग्रहाः ॥८७॥

अन्वयार्थ—(लिंगं) जटाधारण आदि अन्यमत के भेष व नग्नपना

आदि जैन धर्म के वेष (देहाश्रितं) शरीराश्रित हैं और (देह) शरीर (एव) ही (आत्मनः) आत्मा का (भवः) संसार है (तस्मात्) इसीलिए (ये) जो (लिंगकृताग्रहाः) वेष को धारने से ही मुक्ति-प्राप्ति का पक्ष रखने वाले हैं अर्थात् जो बाहरी वेष को ही मोक्ष का कारण मानते हैं (ते) वे पुरुष (भवात्) संसार से (न मुच्यन्ते) कभी नहीं छूटते।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य महाराज ने इस विकल्प का त्याग कराया है कि 'मैं साधु वेषधारी हूं अतः मैं अवश्य संसार से पार हो जाऊंगा।' मोक्ष का साक्षात् कारण तो अंतरंग स्वात्मलीनता रूप वीतराग चारित्र है और बाहरी नग्न वेष उस अंतरंग चारित्र का निमित्त कारण है। वह अन्तरंग चारित्र क्योंकि वीतराग भाव रूप होता है अतः उसका निमित्त बाहरी वेष भी नियम से वीतरागता का प्रकाशक ही होना चाहिए और इसी कारण वह नग्न दिगम्बर व सर्व परिग्रहरहित ही होता है। बाहर का सरागी वेष अंतरंग की वीतरागता का प्रकाश कभी भी नहीं कर सकता। अतः मोक्षार्थी को नग्न वेष धारण करके अन्तरंग चारित्र का पालन करना चाहिए और तभी उसकी मुक्ति होगी। पर यदि कोई बाहरी वेष तो बना ले और भीतर में स्वात्मानुभव व वीतरागभाव जगावे नहीं तो उसका वह बाहरी वेष उसे कभी भी मोक्षमार्ग में नहीं ले जा सकता।

आचार्य कहते हैं कि 'मैं मुनि हूं, मैं त्यागी हूं, मैं बड़ा हूं अतः मुक्त हो जाऊंगा' ऐसा अहंकार करने वाला क्योंकि पर में अपनापना मानने के कारण स्वानुभव से रहित है और विकल्प से सहित है अतः उसका मोक्ष कभी नहीं हो सकता। स्वानुभव में तो विकल्परहित अभेद निश्चय रत्नत्रयमयी वह परिणति होती है जो कर्मों की संहारक है। श्रद्धावान को यह निश्चय रखना चाहिए कि सर्वदा आत्मा का भाव ही तारक, भवनिवारक व सुखकारक होता है। अतः उसे इस आत्मभाव की प्राप्ति के जो-जो भी निमित्त कारण हों उन्हें मिलाकर इस भाव को ही प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसे रोटी तो अग्नि से पकती है परन्तु अग्नि का

लाभ तभी होता है जब कोयला या लकड़ी आदि सामग्री इकट्ठी की जावे। उसी तरह कर्मों की निर्जरा तो उत्कृष्ट आत्मध्यान से ही होती है पर उत्कृष्ट आत्मध्यान तभी हो सकता है जब उसके लिए मुनिपने का नग्न वेष व अन्य व्यवहार चारित्र रूपी बाहरी सामग्री का सम्बन्ध मिलाया जावे। और जैसे कोई अग्नि जलाने के लिए लकड़ी आदि सामग्री तो इकट्ठी कर ले पर अग्नि जलाने का उद्योग न करे तो रोटी कभी भी नहीं पकेगी वैसे ही कोई नग्न वेष तो धारण कर ले पर आत्मानुभव व आत्मध्यान का कुछ भी उपाय न करके मात्र उस वेष के अहंकार में ही उन्मत्त रहे तो उसका वह वेष-धारण व व्यवहार चारित्र कर्मों की निर्जरा का कारण कभी भी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि वेष का विकल्प भी छोड़कर स्वात्मानुभवी होने का उपाय करना चाहिए।

आगे की उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिनका ऐसा हठ है कि 'वर्णों में ब्राह्मण वर्ण बड़ा है अतएव उसी वर्ण वाले परमपद के योग्य हैं' वे कभी भी मुक्ति के पात्र नहीं होते—

श्लोक—जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥८८॥

अन्वयार्थ—(जातिः) ब्राह्मण, शूद्र, क्षत्रिय व वैश्य वर्ण (देहाश्रिता) देह के आश्रित (दृष्टा) देखे गये हैं और (देह एव) देह ही (आत्मनः भवः) आत्मा का संसार है (तस्मात्) इसीलिए (ये) जो अज्ञानी (जातिकृताग्रहाः) 'जाति ही मोक्ष का कारण है' ऐसा हठ करते हैं (ते) वे (भवात्) इस संसार से (न मुच्यन्ते) कभी नहीं छूटते।

भावार्थ—यहाँ पर भी यही भाव है कि जिसके दिल में यह विकल्प होता है कि 'मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य रूप उच्च वर्ण का होने से मुक्ति का पात्र हूँ' उसके निर्विकल्प आत्मानुभवरूप समाधिभाव नहीं हो सकता क्योंकि जब उपयोग जातिपने के अहंकार से हटकर अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में तन्मय होता है तभी निश्चय रत्नत्रयरूप वह भाव प्रकट होता है

जिसके बल से कर्मों की निर्जरा हो और आत्मा मुक्ति-पथ पर चल सके। उच्च जाति का होना व्यवहारनय से चारित्र के लिये साधन कहा गया है, निश्चयनय से नहीं जिसका भाव यह है कि दिगम्बर मुनि हुए बिना जीव मोक्ष का ऊंचा साधक नहीं हो सकता और दिगम्बर मुनि आचार-शास्त्रों के अनुसार वही हो सकता है जो उच्च वर्ण वाला हो अर्थात् जो लोक में ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य संज्ञा का धारी हो। मुक्ति के योग्य ऐसा ऊंचा आत्मभाव उसी के होना सम्भव है जिसके भीतर वह दीनवृत्ति न हो जो शूद्रों में पाई जाती है इसीलिए उच्च वर्ण वाले को ही मुनि की दीक्षा दी जाती है।

मुनि की दीक्षा लेना व्यवहार चारित्र है जिसकी आवश्यकता इससे पहले वाले श्लोक में कही जा चुकी है पर जो कोई व्यवहार चारित्र को धारने मात्र से ही मुक्ति-प्राप्ति का अभिप्राय रखता है उसका इस श्लोक में निषेध है क्योंकि जीव केवल व्यवहार के विकल्प से मोक्ष के योग्य स्वात्मध्यान नहीं कर सकता। वह तो जब जातिपने का विकल्प भी छोड़कर निर्मल आत्मानुभव की भावना में लीन होता है तभी मोक्ष का पात्र हो सकता है। तात्पर्य यह निकलता है कि निज स्वरूप की निरंतर भावना करनी चाहिए।

आगे की उत्थानिका-आगे कहते हैं कि जो ऐसा विकल्प करते हैं कि 'ब्राह्मणादि जाति का धारी वा साधु वेष का धारी मात्र होने से ही जीव मोक्ष पा सकता है' उनको भी मुक्ति नहीं हो सकती-

श्लोक-जातिलिंगविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥८९॥

अन्वयार्थ-(येषां च) और जिनका (जाति लिंग विकल्पेन) 'जाति और वेष के विकल्प से ही मोक्ष होता है' ऐसा (समयाग्रहः) आगम सम्बन्धी आग्रह है अर्थात् 'ऐसा आगम कहा है कि उत्तम जातिविशिष्ट होने से वा साधु वेषधारी मात्र होने से ही जीव मुक्ति प्राप्त कर सकता

है' ऐसा जिनका हठ है (तेऽपि) वे भी (आत्मनः) आत्मा के (परमं पदम्) उत्कृष्ट पद को (न प्राप्नुवन्त्येव) प्राप्त नहीं कर पाते ।

भावार्थ–आचार्य कहते हैं कि यदि किसी के मन में ऐसा अहंकारयुक्त विकल्प हो कि 'मैं उत्तम जातिधारी व साधु लिंगधारी हूं अतः मैं अवश्य मुक्त हो जाऊंगा–ऐसा आगम में कहा है' तो वह विकल्प छोड़ने योग्य है। यद्यपि व्यवहारनय से उत्तम वर्ण व मुनि वेष को आगम में मुक्ति का कारण कहा है परन्तु ये दोनों केवल बाहरी निमित्त हैं, स्वयं मुक्ति के कारण नहीं। इनके होते हुए आत्मा की जो सर्व पर-वस्तुओं के ममत्व से रहित अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिति होती है वही मोक्ष का मार्ग है क्योंकि वहाँ पर अभेदस्वरूप निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। उत्कृष्ट पद तो आतमा का परम पवित्र स्वभाव है इसीलिए उसका साधन भी वह निर्मल भाव ही होना चाहिए जो सर्व पदार्थों के ममत्व व किसी भी प्रकार के अहंकार से रहित हो। 'मैं मुनि हूं, त्यागी हूं, ऊंचा हूं, पूजनीय हूं' ऐसा जहाँ अहंकार हो, वहाँ मानभाव होने के कारण शुद्ध स्वरूप में रमण नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि निर्विकल्प होकर शुद्धात्म स्वभाव में कल्लोल करना ही मोक्ष का साधन है।

आगे की उत्थानिका–परमपद की प्राप्ति के लिए व उत्तम जाति आदि सहित शरीर में ममत्व-त्याग के लिए भोगों को छोड़ा जाता है पर जो कोई इन इन्द्रिय-भोगों को छोड़कर भी फिर से मोह के आधीन हो शरीर में ही प्रीति करते हैं, उनके लिए आचार्य कहते हैं–

श्लोक–यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥९०॥

अन्वयार्थ–(यत् त्यागाय) शरीर से ममता के त्याग के लिए तथा (यत् अवाप्तये) परम वीतराग स्वरूप के लाभ के लिए प्राणी (भोगेभ्यः) इन्द्रियों के भोगों से (निवर्तन्ते) हटते हैं पर उनसे हटकर भी वे (मोहिनः) मोही जीव पुनः (तत्रैव) उस ही शरीर में (प्रीतिं) राग तथा

(अन्यत्र) दूसरे अर्थात् वीतरागभाव में (द्वेषं) द्वेष (कुर्वन्ति) किया करते हैं।

भावार्थ—यह बड़े भारी मोह का माहात्म्य है जिससे कि संसारी प्राणी पहले तो शरीर से ममता हटाने व वीतरागभाव प्राप्त करने के लिए इन्द्रिय विषय-भोगों को त्याग देते हैं और फिर बाद में मोह के उत्पन्न हो जाने पर उसी शरीर में ही प्रीति करके वीतरागभाव से अरुचि कर लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि परिग्रह व आरम्भ का त्याग करके मुनि की दीक्षा इसीलिए धारण की जाती है कि निराकुल होकर वीतरागभाव का अभ्यास किया जाये और पुनः-पुनः उस आत्मानुभव का लाभ किया जाये जिसका कारण शरीरादि पर-पदार्थों से भेदज्ञान है। भेदज्ञान का अर्थ ही अपने स्वरूप को उपादेय जानकर ग्रहण कर लेना और पर को हेय जानकर त्याग देना है। यदि कोई मुनि की दीक्षा धारण करके भी फिर से शरीर, उसके वेष व उसकी जाति से मोह करे और उन्हीं का अहंकार किया करे तो उसकी अवश्य ही वीतराग शुद्ध आत्मस्वरूप में अरुचि है और उसमें कारण मिथ्यात्व व राग का उदय ही है। आचार्य देव का उपदेश यह है कि शरीर की जाति व वेष का अभिमान छोड़कर तथा उन्हें निमित्त मात्र जानकर अपने आत्मस्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी भाव से राग नहीं करना चाहिए और अभेद रत्नत्रयस्वरूप आत्मा के एक शुद्धभाव को ही मुक्ति का कारण जानकर उसी का निरंतर अनुभव करना चाहिए।

आगे की उत्थानिका—मोही जीव शरीर में किस प्रकार का श्रद्धान रखते हैं, वह बताते हैं—

श्लोक—अनन्तरज्ञः संधत्ते दृष्टिं पङ्गोर्यथाऽन्धके।
संयोगात् दृष्टिमङ्गेऽपि सन्धत्ते तद्वदात्मनः ॥९१॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (अनन्तरज्ञः) भेद को न जानने वाला पुरुष (संयोगात्) पंगु और अन्धे के संयोग के कारण (पङ्गोः दृष्टिं) पंगु की दृष्टि को (अन्धके) अंधे पुरुष में (सन्धत्ते) मान लेता है (तद्वत्) वैसे ही

बहिरात्मा मोही अज्ञानी जीव आत्मा और शरीर के संयोग के कारण (आत्मनः) आत्मा की (दृष्टि) दृष्टि को अर्थात् आत्मा के ज्ञानदर्शन स्वरूप को (अङ्गेऽपि) शरीर में ही (सन्धत्ते) मान लेता है।

भावार्थ–आचार्य दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे किसी अंधे व्यक्ति द्वारा किसी पगरहित पंगु मनुष्य को कंधे पर रखकर ले जाते हुए देखकर मूर्ख व्यक्ति को यह मालूम नहीं चलता कि ये दो मनुष्य हैं और इसमें पैर तो अंधे के हैं व आंखें पंगु की हैं। वह तो उन्हें देखकर यही समझता है कि ये आंखें उसी आदमी की हैं जिसके पैर हैं अर्थात् वह अंधे पुरुष में ही आंखों का आरोप कर लेता है वैसे ही आत्मा और पुद्गल का भिन्न-भिन्न स्वभाव न जानने वाला मूर्ख बहिरात्मा जीव पुद्गल को ही आत्मा के ज्ञानदर्शन स्वरूप का धारी मान लेता है। जैसे अंधे के द्वारा पंगु को लेकर चलना होने पर भी पैर तो अंधे के हैं पर आंखें पंगु की हैं, पंगु अपनी आंखों से देखकर जिधर इशारा करता है उधर ही अंधा पग उठाकर चलता है वैसे ही जीव और देह के एकक्षेत्रावगाही होने पर भी जानने देखने का काम ज्ञानस्वरूप होने के कारण जीव ही करता है, पुद्गल नहीं क्योंकि पुद्गल में चेतना नहीं है। जो कुछ भी हलन-चलन आदि क्रिया होती है उसका कारण पुद्गल है पर ज्ञान का कारण आत्मा है। अज्ञानी जीव को यथार्थ पहिचान नहीं होती और इसी कारण वह आत्मा और अनात्मा को एकरूप मान लिया करता है पर भेदज्ञानी यथार्थ जानता है क्योंकि उसे प्रत्येक द्रव्य के भिन्न-भिन्न लक्षण और गुण पर्याय मालूम होते हैं।

आगे की उत्थानिका–आगे कहते हैं कि अंतरात्मा इस विषय में क्या समझता है–

श्लोक–दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत्।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ॥९२॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (दृष्टभेदः) लंगड़े और अंधे के भेद को देखने वाला पुरुष (पङ्गोः दृष्टिं) लंगड़े की दृष्टि को (अंधे) अंधे पुरुष में

(न योजयेत्) नहीं लगाता अर्थात् अंधे को दृष्टिहीन जानकर पंगु को ही दृष्टि वाला समझता है (तथा) वैसे ही (दृष्टात्मा) शरीरादि पर-पदार्थों से भिन्न आत्मा को देखने वाला पुरुष (आत्मनः दृष्टिं) आत्मा के दर्शनज्ञान स्वरूप को (देहे) शरीर में (न योजयेत्) नहीं जोड़ता।

भावार्थ–जैसे समझदार प्राणी अंधे के कंधे पर पंगु को चढ़े हुए देखकर यही समझता है कि ये दो पुरुष हैं, इनमें जो चल रहा है वह तो अंधा है और जो उसके कंधे पर है वही देखने वाला है वैसे ही ज्ञानी पुरुष आत्मा व शरीर के एकक्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध के धारी मनुष्य, पशु व वृक्ष आदि को देखकर यही समझता है कि यह स्थूल शरीर और तैजस व कार्माण सूक्ष्म शरीर तो जड़ परमाणुओं के समुदाय हैं तथा कर्मों के उदय से होने वाले राग, द्वेष, मोह आदि विकार भी आत्मा के सच्चे स्वभाव से भिन्न कर्मों के रस या अनुभाग ही हैं पर आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला है–ऐसा दृढ़ विश्वास रखता हुआ वह ऐसा ही जानता, मानता व अनुभव करता है। इस तरह ज्ञानी जीव भेद-विज्ञान के बल से आत्मा और अनात्मा को अलग-अलग जानता है और कभी भी एक का स्वभाव दूसरे में नहीं मिलाता।

आगे की उत्थानिका–आगे कहते हैं कि बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि तथा अंतरात्मा सम्यग्दृष्टि के लिये कौन-कौन सी अवस्थाएं भ्रमरूप व कौन-कौन सी भ्रमरहित हैं–

श्लोक—सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम्।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः ॥९३॥

अन्वयार्थ–(अनात्मदर्शिनाम्) जिन्हें आत्मस्वरूप का यथावत् ज्ञान नहीं है ऐसे बहिरात्माओं को (सुप्तोन्मत्तादि अवस्था एव) निद्रा की, उन्मत्तपने की व मूर्च्छा आदि की अवस्थाएं ही (विभ्रमः) भ्रमरूप मालूम होती हैं पर (आत्मदर्शिनः) आत्मदर्शी अंतरात्मा को (अक्षीणदोषस्य) बहिरात्मा सम्बन्धी (सर्वावस्था) सारी ही अवस्थाएं (विभ्रमः) भ्रमरूप दिखाई देती हैं।

भावार्थ—जिन्हें आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है ऐसे बहिरात्मा अपने अनात्मज्ञपने को अर्थात् अपने द्वारा आत्मा के सच्चे स्वरूप के अज्ञान की बात नहीं समझते। वे जब जागते तथा काम करते हैं तब तो अपनी दशा को अच्छी जानते हैं और अपनी मात्र सुप्त, मूर्च्छित और नशे की अवस्था को ही भ्रमरूप समझते हैं। पर जो अंतरात्मा सम्यग्दृष्टि जीव हैं वे अज्ञानपने की सर्व अवस्थाओं को ही भ्रमरूप जानते हैं। बहिरात्मा यदि मुनिवेष भी धारण करें तो भी अंतरात्मा उस अवस्था को आत्म-ज्ञान रहित होने के कारण सम्यक् नहीं मानते, उन्हें तो आत्मज्ञान सहित अवस्था ही ठीक जंचती है।

इस श्लोक का दूसरा अर्थ यह भी है कि आत्मदर्शी लोगों को आत्मा का ऐसा दृढ़ अभ्यास होता है कि सुप्त व उन्मत्त आदि अवस्थाएं भी उन्हें भ्रमरूप नहीं मालूम होतीं अर्थात् इन अवस्थाओं में भी वे आत्मा को नहीं भूलते। वे सदा ही स्वरूप में सावधान रहते है क्योंकि उन्हें अपने स्वरूप का दृढ़तर अभ्यास हो गया है पर अक्षीणदोष बहिरात्मा को आत्मदर्शी की सब अवस्थाएं भ्रमरूप मालूम होती हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि अंतरात्मा और बहिरात्मा के विचार में बड़ा ही भेद होता है। अंतरात्मा आत्मस्वरूप में सावधान होता है इससे वह उसी अवस्था को ठीक समझता है पर बहिरात्मा को आत्मज्ञान नहीं होता इससे उसकी सारी ही अवस्थाएं भ्रमरूप होती हैं।

आगे की उत्थानिका—यहाँ शिष्य शंका करता है कि जो बाल, वृद्ध व युवा आदि सर्व अवस्थाओं में आत्मपना मानता है वह यदि सारे शास्त्रों को जान जावे और निद्रारहित होकर जागता ही रहे तो मुक्त हो जायेगा कि नहीं? आचार्य इसका समाधान करते हैं—

श्लोक—विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥९४॥

अन्वयार्थ—(देहात्मदृष्टिः) शरीरादि पर-वस्तुओं को आत्मा मानने

वाला बहिरात्मा (विदिताशेषशास्त्रः अपि) बहुत से शास्त्रों का जानने वाला होने पर भी तथा (जाग्रत अपि) जागता हुआ रहने पर भी देह और आत्मा के भिन्न-भिन्न श्रद्धान के बिना (न मुच्यते) मुक्त नहीं होता पर (ज्ञातात्मा) आत्मा के स्वरूप को अच्छी तरह जानने वाला अंतरात्मा (सुप्तोन्मत्तोऽपि) सुप्त वा उन्मत्तादि अवस्थाओं में भी आत्मा के दृढ़तर अभ्यास के बल से (मुच्यते) कर्मों से छूट जाता है क्योंकि उसके अंतरंग में आत्मा की श्रद्धा ऐसी जड पकड़ जाती है कि वह निद्रादि अवस्थाओं में भी आत्म-रुचि से खाली नहीं होता और इस प्रकार कर्मों की निर्जरा ही किया करता है।

भावार्थ–आचार्य शिष्य की शंका का समाधान करते हैं कि किसी को ऐसा नहीं समझना चाहिए कि शास्त्र का पाठी तथा शून्य समाधि का अभ्यास करने वाला जीव कर्मों से छूटकर मुक्त हो जायेगा। जिसकी देह आदि पर-पदार्थों में आत्मबुद्धि मौजूद है वह कितना ही श्रुत पढ़े वा कितना ही तप करे पर उसका वह सब श्रम कर्मों की निर्जरा का कारण नहीं है। आत्मानुभव के बिना ज्ञान कुज्ञान, व्रत कुव्रत तथा तप कुतप कहाता है जैसा कि श्री 'समयसार' जी में श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने कहा है–

गाथा–परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणइ तवं वदं च धारेई।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥१५२॥

भावार्थ–जो परमार्थभूत आत्मा के स्वभाव में स्थिर नहीं है वह जो कुछ तप या व्रत करता है सो सर्व बालतप व बालव्रत है–ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है।

अतः आत्मानुभव ही मुख्यता से कर्मों की निर्जरा का कारण है और इसी के होने से यह आत्मा निर्वाण का भागी हो सकता है। आत्मानुभव से शून्य पुरुष व्यवहार में चाहे कितना भी सावधान हो परन्तु कर्मों से मुक्ति नहीं पा सकता जबकि आत्मानुभव का दृढ़ अभ्यासी सोते हुए भी

कर्मों की निर्जरा किया करता है। कहने का तात्पर्य यही है कि कर्मों के बन्धन से छूटने का एकमात्र उपाय आत्मा का सच्चा श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र है और यह निश्चय रत्नत्रय ही मोक्ष का साधक है।

आगे की उत्थानिका—सम्यग्दृष्टि के निद्रित अवस्था में भी आत्म-विचार कैसे बना रहता है, इसी का समाधान करते हैं—

श्लोक—यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥९५॥

अन्वयार्थ—(यत्रैव) जिस विषय में (पुंसः) पुरुष की (आहितधीः) बुद्धि जुड़ जाती है (तत्रैव) उस विषय में ही (श्रद्धा) रुचि (जायते) पैदा हो जाती है और (यत्रैव) जिस विषय में (श्रद्धा) रुचि (जायते) पैदा हो जाती है (तत्रैव) उस विषय में (चित्तं लीयते) मन लय हो जाता है।

भावार्थ—मनुष्य की बुद्धि तर्क-वितर्क व सोच-विचार करते करते जिस किसी विषय में सन्तुष्ट हो जाती है, उसी का ही उसमें श्रद्धान जम जाता है और श्रद्धान जम जाने पर उसमें रुचि बढ़ जाती है। जब रुचि बढ़ जाती है तब मन अपने आप ही उस पदार्थ में आसक्त हो जाता है और मन के आसक्त हो जाने पर उसका विचार निरंतर रहता है यहां तक कि निद्रा आदि अवस्थाओं में भी वह रहने लगता है, इसी कारण पहले कहा है कि ज्ञानी जीव अपने ज्ञानभाव में कभी भी गाफिल नहीं होता और सदा ही जागता रहता है।

'आत्म-ध्यान में अपना चित्त कैसे लगे' ऐसी शंका प्रायः हो जाया करती है। इसका समाधान यह है कि आत्म-ध्यान के लिए आत्मा का श्रद्धान व रुचि अत्यन्त आवश्यक है। जैसे किसी को पान खाने की रुचि हो तो उसका मन स्वयम् ही उसके विचार में बार-बार दौड़ जाता है वैसे ही आत्मा के स्वरूप की यथार्थ रुचि होने पर मन स्वतः ही बारम्बार उस स्वरूप ध्यान में लगा करता है। रुचि बढ़ाने के लिए बुद्धि से आत्मा और अनात्मा के गुणों का इस रूप विचार करना चाहिए कि शास्त्रों में आत्मा

का स्वभाव जैसा ज्ञानदर्शनमयी, वीतराग तथा आनन्दमयी कहा है, वह यथार्थ है और यह स्वभाव पुद्गलादि अन्य पांच द्रव्यों में नहीं पाया जाता। इस तरह लक्षण और स्वभाव के भेद को विचारते-विचारते आत्मा के स्वरूप का सामान्य ज्ञान हो जाता है और तत्पश्चात् जब उसका श्रद्धान हो जाता है तो मन स्वयं उस स्वरूप में जमता है और आत्मध्यान वा स्वानुभव की प्राप्ति हो जाती है। स्वानुभव हो जाने पर वह सामान्यज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है।

आगे की उत्थानिका—'चित्त कहां पर आसक्त नहीं होता' इस प्रश्न का आचार्य उत्तर देते हैं—

श्लोक—यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः ॥९६॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ पर (पुंसः) मनुष्य की (अनाहितधीः) बुद्धि नहीं जमती (तस्मात्) वहाँ से (श्रद्धा) रुचि (निवर्तते) हट जाती है और (यस्मात्) जिससे (श्रद्धा) रुचि (निवर्तते) हट जाती है (तत्) उसमें फिर (कुतः) किस तरह से (चित्तस्य) चित्त की (लयः) लीनता हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती।

भावार्थ—आचार्य कहते है कि विचारते-विचारते जिस पदार्थ में बुद्धि नहीं जमती, उस पदार्थ की रुचि भी पैदा नहीं होती और जिसकी रुचि पैदा नहीं होती उसमें चित्त भी नहीं लगता। तात्पर्य यह है कि बहिरात्मा अज्ञानी जीव की बुद्धि आत्मस्वरूप के ज्ञान में नहीं जमती अतः उसे निज चैतन्य-स्वरूप का श्रद्धान भी नहीं होता और इसी कारण उसका चित्त आत्मा के ध्यान में नहीं लगता।

आगे की उत्थानिका—ध्याता का चित्त जिसमें लय होता है, वह ध्येय अपने से भिन्न तथा अभिन्न दो प्रकार का होता है। उनमें से भिन्न आत्मा को ध्येय बनाकर ध्याने का क्या फल होता है, यह बताते हुए आचार्य कहते हैं—

श्लोक—भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः ।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ।।९७।।

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे (भिन्ना वर्तिः) दिये से भिन्न बत्ती (दीपं) दीपक की (उपास्य) उपासना करके (तादृशी) दीपक रूप (भवति) हो जाती है वैसे ही (आत्मा) यह आत्मा (भिन्नात्मानम्) अपने से भिन्न अरहंत सिद्ध परमात्मा का (उपास्य) ध्यान करके (तादृशः) उन ही जैसा (परो) अर्हंत सिद्ध परमात्मा (भवति) हो जाता है ।

भावार्थ–यहां आचार्य देव ने परतत्त्व के ध्यान का फल कहा है । स्व-तत्त्व निज आत्मा और परतत्त्व अरहंत सिद्ध परमात्मा हैं । पहले अरहंत सिद्ध का स्वरूप ध्यान में लेकर अपने को अरहंत सिद्ध स्वरूप ध्याया जाता है । इस प्रकार के अभ्यास के बल से आत्मानुभव हो जाता है जिसका फल कर्मों से छूटकर मुक्ति प्राप्त करना है । जो कोई आत्मा को शुद्ध ज्ञातादृष्टा रूप ध्याता है वह वैसे ही मुक्त हो जाता है जैसे रुई की बत्ती दीपक की लौ की संगति करने से स्वयं दीपक होकर जलने लगती है । तात्पर्य यह है कि आत्मानुभव के लाभ के लिए अरहंत सिद्ध का स्वरूप ध्यान में लेकर उन्हीं के समान अपना स्वरूप ध्याना चाहिए ।

आगे की उत्थानिका–अब अपनी ही आत्मा की उपासना का फल कहते हैं–

श्लोक–उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथातरुः ।।९८।।

अन्वयार्थ–(अथवा) अथवा (आत्मा) आत्मा (आत्मानम् एव) अपने को ही (उपास्य) ध्याकर उसी प्रकार (परमः) परमात्मा (जायते) हो जाता है (यथा) जिस प्रकार (तरुः) वृक्ष (आत्मानम् एव) अपने को ही (मथित्वा) घिसकर (आत्मा एव) आप ही (अग्निः) अग्नि रूप (जायते) हो जाता है ।

भावार्थ–आचार्य स्वरूप लाभ के लिए ऊपर एक उपाय बता चुके हैं। अब वे दूसरा उपाय कहते हैं कि जैसे वृक्ष स्वयं अपनी शाखाओं से रगड़-रगड़कर अपने आप ही जलकर अग्नि रूप हो जाता है वैसे ही यह आत्मा अपने ही शुद्ध ज्ञानानन्दमयी स्वरूप का ध्यान करके आप ही परमात्मा रूप हो जाता है। वास्तव में वृक्ष के काष्ठ में अग्नि जैसे शक्ति रूप से विद्यमान होती है और तभी तो वह निमित्त मिलने पर प्रकट हो पाती है वैसे ही परमात्मपने की शक्ति इस आत्मा में विद्यमान है। यह जब अपने उपयोग को अन्य सब ओर से खींचकर अपने में ही बारम्बार लीन करता हुआ ध्यान एवं आत्मानुभव का अभ्यास करता है तब इसके दीर्घ-कालीन अभ्यास के बल से कर्मों का आवरण हट जाता है और यह आत्मा अपने स्वभाव को प्रकट करके परमात्मा हो जाता है।

आगे की उत्थानिका–ऊपर के ही भाव को संकुचित करके फिर कहते हैं–

श्लोक—इतीदं भावयेन्नित्यमवाचांगोचरं पदम्।
स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः ॥९९॥

अन्वयार्थ–(इति) ऊपर कहे प्रकार (इदं) इस भिन्न व अभिन्न स्वरूप आत्म-स्वभाव की (नित्यम्) नित्य ही (भावयेत्) भावना करने से जीव (तत्) उस (अवाचां गोचरं) वचनों से नहीं कहे जा सकने वाले किंतु मात्र अनुभव करने योग्य (पदं) पद को अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को (स्वत एव) अपने आप ही (आप्नोति) प्राप्त कर लेता है और फिर (यतः) उस प्राप्त किए हुए पद से (पुनः) पुनः (न आवर्तते) वापिस नहीं लौटता।

भावार्थ–अपने स्वरूप के पूर्ण लाभ तथा बंधन से मुक्ति पाने के लिए आचार्य उपदेश करते हैं कि या तो अरहंत सिद्ध परतत्त्व द्वारा अथवा अपनी आत्मा के ही निजतत्त्व द्वारा स्वात्मा के ध्यान तथा अनुभव का अभ्यास सदा करते रहना चाहिए। यह अभ्यास जब तक अपने सच्चे

परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति न हो जाये तब तक करना चाहिए और कम से कम क्षपक श्रेणी पर चढ़ने से पहले तक तो बराबर करना ही चाहिए। इसी ध्यान की अग्नि से कर्मों के आवरण गिर जाते हैं और वह आत्मा पहले अरहंत होता हुआ फिर शरीरों से छूटकर मुक्त सिद्ध परमानन्दमय हो जाता है। एक बार इसकी शुद्ध अवस्था के प्रकाशमान हो जाने पर फिर यह उस अवस्था को त्यागकर अशुद्ध नहीं हो सकता। जैसे भुना हुआ चना फिर नहीं उग सकता, शुद्ध चावल जमीन में नहीं बोया जा सकता और शुद्ध सुवर्ण फिर कभी मैला कनक पाषाण नहीं हो सकता वैसे ही सिद्ध या मुक्तात्मा फिर कभी संसारी या कर्मबद्ध आत्मा नहीं हो सकता।

आगे की उत्थानिका–शिष्य शंका करता है कि 'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व आकाश–ऐसे पांच तत्त्वों से शरीर बना है और आत्मा उसी में अन्तर्भूत है, उससे अलग कोई पदार्थ नहीं' ऐसा चार्वाक कहते हैं तथा 'आत्मा सदा ही मुक्त है' ऐसा सांख्य लोग कहते हैं तो फिर आत्मध्यान की तो कोई आवश्यकता रह ही नहीं जाती है? आचार्य इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं–

श्लोक–अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित् ॥१००॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि चार्वाक के मतानुसार (भूतजं) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व आकाश–इन पांच भूतों से (चित्तत्वं) आत्मपना माना जाये तो (निर्वाणं) मोक्ष (अयत्नसाध्यं) यत्न से साधने योग्य नहीं ठहरता क्योंकि पांच भूतों के विनष्ट हो जाने पर जब आत्मा ही विनष्ट हो जायेगा तो फिर मोक्ष किसका? तथा सांख्य मतानुसार आत्मा स्वभाव से शुद्ध आत्मतत्त्वरूप है अतः वहाँ भी मोक्ष के लिए यत्न की आवश्यकता नहीं बनती? वास्तव में आत्मा तो उक्त दोनों मतों से (अन्यथा) विपरीत है अर्थात् वह पंचभूत निर्मित न होकर एक नित्य स्वतंत्र द्रव्य है और

अनादि से अशुद्ध दशा में है (तस्मात्) इसी कारण उसे शुद्ध करने के लिए (योगिनां) योगियों को (योगतः) आत्मानुभूति व चित्तवृत्ति के निरोध-स्वरूप योग का अभ्यास करने में (क्वचित्) किसी भी प्रकार का कोई (दुःखं) दुःख (न) नहीं होता अर्थात् वे सहर्ष मुक्ति का यत्न किया करते हैं।

भावार्थ–यहां पर आचार्य महाराज ने बहुत अच्छी तरह से शिष्य का यह श्रद्धान दृढ़ किया है कि आत्मा एक अविनाशी पदार्थ है जो कि जड़ शरीर से अलग है और चार्वाक की मान्यता की तरह पृथ्वी आदि से रचा हुआ नहीं है। यद्यपि निश्चयनय से इसमें परमात्म-स्वरूप की शक्ति है तथापि व्यवहारनय से वर्तमान में इसकी अशुद्ध पर्याय हो रही है। यदि वर्तमान में व्यवहारनय से भी यह शुद्ध ही होता तो किसी भी प्रकार के कोई उपदेशग्रहण, शास्त्रपठन, तप व ध्यानादि करने की कोई जरूरत न होती परन्तु ऐसा नहीं है। वर्तमान में क्योंकि इस आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट नहीं है इसीलिये तत्त्वज्ञान, भेदविज्ञान तथा आत्मा के अनुभव की बहुत आवश्यकता है। योगीजन जब आत्मध्यान का अभ्यास करते हैं तब उन्हें एक अपूर्व आध्यात्मिक आनन्द का लाभ होता है जिसके सामने वे कठिन से कठिन तपस्या को व किसी के द्वारा किये गए उपसर्ग को भी कुछ नहीं गिनते और बड़े चाव, भक्ति तथा आनन्द से आत्मा का ध्यान किया करते हैं।

आगे की उत्थानिका–'मरण होने पर जब आत्मा का अभाव ही हो जाता है तब कैसे उसका अस्तित्व मोक्ष में भी कायम रह सकता है' ऐसा प्रश्न करने वाले के प्रति आचार्य उत्तर कहते हैं–

श्लोक–स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथाऽऽत्मनः।
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः ॥१०१॥

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे (स्वप्ने) स्वप्न की अवस्था में शरीर का (विनष्टे) नाश (दृष्टे) दिखाई देते हुए (अपि) भी (आत्मनः) अपना (आत्मा)

नाश (न अस्ति) नहीं होता (तथा) वैसे ही (जागर दृष्टेऽपि) जाग्रत अवस्था में देखे हुए शरीरादि का नाश होते हुए भी आत्मा का नाश नहीं होता (विपर्यासाविशेषत:) और इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत दोनों ही अवस्थाओं में शरीरादि का नाश दिखाई देते हुए भी नाश न होने रूप विरोध की समानता है।

भावार्थ—आत्मा सदा अविनाशी ज्ञातादृष्टा स्वरूप है, इसका कभी नाश नहीं हो सकता। जैसे कोई स्वप्न में अपना मरण देखे तो उसका वह देखना केवल भ्रमरूप ही होता है वैसे ही इस जगत में भी शरीर का नाश दिखाई देते हुए भी आत्मा का नाश नहीं होता। तात्पर्य यह है कि कोई भी भ्रांतिरहित चतुर पुरुष जैसे स्वप्न में अपने नाश को सच्चा नहीं जानता वैसे ही वह जाग्रत अवस्था में भी शरीर के नाश से अपना नाश नहीं मानता।

वास्तव में वस्तु का स्वरूप ही सत् है अतः कोई भी पदार्थ कभी भी नष्ट नहीं होता, मात्र उसकी अवस्था में ही परिवर्तन हुआ करता है। यह शरीर तो अनेक पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है पर आत्मा एक अखंड द्रव्य है। मरण समय शरीर और आत्मा का वियोग होने पर शरीर को जला दिया जाता है और उसके परमाणु खंड-खंड होकर अनेक अवस्थाओं में परिणमित हो जाते हैं पर आत्मा अखंड ही बना रहता है। यदि आत्मा भी परमाणुओं से बनता व बिगड़ता होता तो बाल्यावस्था और युवावस्था का स्मरण वृद्धावस्था में नहीं रह सकता था। शरीर के छूटने पर भी आत्मा एक अखंड ही बना रहता है अतः इस बात में कोई शंका नहीं रह जाती कि वह एक अविनाशी पदार्थ है और मोक्ष होने पर भी अवश्य उसकी सत्ता कायम रहेगी।

आगे की उत्थानिका—शिष्य शंका करता है कि उस प्रसिद्ध अनादि अनंत आत्मा की मुक्ति के लिए कठिन तप का कष्ट उठाना व्यर्थ है क्योंकि ज्ञान मात्र की भावना करने से ही मुक्ति की सिद्धि हो जायेगी? इसका आचार्य समाधान करते हैं—

श्लोक–अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ।।१०२।।

अन्वयार्थ–(अदुःखभावितं) कायकष्टों के बिना सुकुमार भाव से भाया हुआ शरीरादि से भिन्न (ज्ञानं) आत्मा का ज्ञान (दुःखसन्निधौ) दुःखों के पड़ने पर (क्षीयते) नाश को प्राप्त हो जाता है (तस्मात्) इसीलिए (मुनिः) योगी, ध्यानी व यति (यथाबलं) अपनी शक्ति को न छिपाकर (दुःखैः) कायक्लेशादि कष्टों के द्वारा (आत्मानं) अपनी आत्मा को (भावयेत्) भावे अर्थात् उसकी भावना करे ।

भावार्थ–आत्मानुभव की दृढ़ भावना के हुए बिना कर्मों का नाश नहीं हो सकता और शरीर-सामग्री को अनुकूलता में भाया हुआ आत्म-ध्यान मजबूत नहीं हो सकता अर्थात् जिन्हें शरीर को सुखिया रखकर ध्यान करने की आदत होती है उनका ध्यान कष्टों के आने पर जमा हुआ नहीं रहता । वे भूख, प्यास, गर्मी वा सर्दी की जरा सी भी बाधा को सहन नहीं कर पाते । उनका मन विषय कषायों में ही फंसा रहता है और शरीर के तनिक से भी कष्ट में उनका चित्त चलायमान हो उठता है । जरा सा भी संकट पड़ने पर वे घबड़ाकर ध्यान से तुरन्त उचट जाते हैं अतः आचार्य कहते है कि ध्यान के अभ्यासी को अनेक कायक्लेशों को सहने की आदत डालनी बहुत जरूरी है ताकि कष्टों के पड़ने पर भी वह ध्यान से चलायमान न हो । जो मुनि अनेक प्रकार के परीषह व उपसर्ग सहकर भी ध्यान कर सकता है वही कर्मों के नाश की योग्यता प्राप्त करता है अतएव बाहरी छह प्रकार के तपों के द्वारा अंतरंग के मुख्य तप ध्यान का अभ्यास करना चाहिए जो कि सुख का कारण है ।

आगे की उत्थानिका–आगे शिष्य शंका करता है कि यदि आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है तब आत्मा के चलते हुए शरीर नियम से किस प्रकार चलने लगता है तथा आत्मा के ठहरने पर शरीर कैसे ठहर जाता है, इसका समाधान आचार्य करते हैं–

श्लोक—प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात् ।
वायोः शरीरयंत्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ।।१०३।।

अन्वयार्थ-(आत्मनः) आत्मा के (इच्छा द्वेष प्रवर्तितात्) राग और द्वेष से होने वाले (प्रयत्नात्) उद्योग के कारण (वायुः) शरीर में वायु चलती है और (वायोः) वायु के चलने से (शरीर यंत्राणि) शरीर के यंत्र (स्वेषु कर्मसु) अपने-अपने कार्यों में (वर्तन्ते) वर्तने लगते हैं।

भावार्थ-पूर्वबद्ध कर्मों के उदय के निमित्त से आत्मा में राग और द्वेष होते हैं जिनसे उसमें कोई काम करने की इच्छा होती है और उस इच्छा के निमित्त से आत्मा की योगशक्ति चलती है अर्थात् आत्मा के प्रदेशों में हलन-चलन होता है। उस हलन-चलन से शरीर में पवन का संचार होता है और पवन की प्रेरणा से हाथ, पैर, आंख, कान व मुंह आदि शरीर के अंगोपांग अपने-अपने कार्यों में प्रवर्तन करने लगते हैं। जैसे लकड़ी से बने हुए सिंह आदि पशु, यंत्रों के बल से दूसरे के द्वारा प्रेरणा किये जाने पर चलते है व मुँह हिलाते है वैसे ही शरीर के यंत्र उस पवन द्वारा चलते हैं जिस पवन को अपनी आत्मा के ही योग और रागद्वेषमयी अशुद्ध उपयोग की प्रेरणा होती है।

आगे की उत्थानिका-मूर्ख इन शरीर के यंत्रों की क्रिया को आत्मा की क्रिया मानता है तथा विवेकी ऐसा नहीं समझकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है, यह बताते हैं-

श्लोक—तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्ते सुखं जड़ः ।
त्यक्त्वाऽऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् ।।१०४।।

अन्वयार्थ-(जड़ः) मूर्ख अज्ञानी बहिरात्मा (साक्षाणि) इन्द्रियों सहित (तानि) इन शरीर के यंत्रों का (आत्मनि समारोप्य) आत्मा में समारोप कर अर्थात् इन्द्रिययुक्त इन शरीरादिकों को ही आत्मा मानकर (सुखं आस्ते) सुख से वा परमार्थतः दुःख से जीवन बिताता है (पुनः) पर

(विद्वान्) विद्वान् अंतरात्मा (आरोपं त्यक्त्वा) इस आरोप को छोड़कर अर्थात् शरीरादि में आत्मपने की मान्यता को त्यागकर तथा सबसे भिन्न अपनी आत्मा के सच्चे स्वभाव का अनुभव कर (परमं पदम्) परमपद रूप मोक्ष को (प्राप्नोति) प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—बहिरात्मा जीव को भेदविज्ञान के अभाव के कारण भिन्न आत्मा के स्वभाव का पता नहीं चलता जिससे वह शरीर की क्रियाओं को ही अपनी क्रिया मान लेता है। रात दिन इन्द्रियों के विषयों में फंसे रहकर वह उनकी ही तृप्ति से सुखी व अतृप्ति से दुःखी हो जाता है और इस प्रकार वह अज्ञानी बाहरी पदार्थों में ही सुखी दुःखी होकर रागद्वेष किया करता है। जो विद्वान अंतरात्मा सम्यग्दृष्टि होता है वह शरीर की क्रिया को आत्मा में नहीं जोड़ता और कर्मबंधन की दशा को व उसके हर प्रकार के फल को अपने स्वरूप से भिन्न जानता है। अपनी आत्मा को वह ज्ञातादृष्टा एवं आनन्दमयी अनुभव करता है और इसी अनुभव के द्वारा कर्मों का नाशकर परमपद को प्राप्त कर लेता है।

आगे की उत्थानिका—'अंतरात्मा किस प्रकार पर को छोड़ देता है' यह बताते हुए अब ग्रंथकर्ता अपने ग्रंथ को संकुचित कर उसका फल दिखाते हुए कहते हैं—

श्लोक--मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च
संसारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठः
तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितन्त्रम् ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(तन्मार्गम्) अतीन्द्रिय सुख के उपाय को बताने वाले एवं परमात्मस्वरूप के अनुभव में एकाग्रता व परम वीतरागता के साधन रूप (एतत् समाधितन्त्रम्) इस 'समाधितंत्र' शास्त्र को (अधिगम्य) जानकर तथा (परत्र) शरीरादि पर-पदार्थों में (संसार दुःख जननीं) चतुर्गति रूप संसार के दुःखों को पैदा करने वाली (परबुद्धिम्) ममकार की बुद्धि को

(च) और (अहंधियं) अहंकार की बुद्धि को (मुक्त्वा) छोड़कर (परात्मनिष्ठः) परमात्म-स्वरूप में तिष्ठने वाला भव्य जीव (जननाद्विमुक्तः) संसार से छूटकर (ज्योतिर्मयं सुखं) ज्ञानमयी आनन्द को (उपैति) प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ–इस 'समाधिशतक' ग्रन्थ में परमानन्द की प्राप्ति का उपाय भली प्रकार से बताया गया है। जो कोई इस ग्रन्थ को पढ़कर अच्छी तरह समझेगा और पर में आत्मबुद्धि छोड़कर अपने स्वरूप में ही आत्मबुद्धि करेगा वह पक्के श्रद्धान को पाकर अपनी आत्मा के ध्यान में ही लीन होता हुआ धीरे-धीरे कर्मों से छूट जायेगा और संसार से मुक्त होकर अविनाशी, ज्ञानमयी एवं परमानंदमय परमात्म-पद को प्राप्त कर लेगा। पर में अपनापना मानने की बुद्धि ही अज्ञान की बुद्धि है। यह बुद्धि ऐसा घोर कर्मबंध कराती है जिससे यह जीव संसार में भ्रमण करता है तथा इस मिथ्याबुद्धि को छोड़ देने पर वह सम्यक्बुद्धि उपजती है जो संसारभाव का नाश करती चली जाती है।

ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र का अंतिम मंगलाचरण–

श्लोक–येनात्मा बहिरन्तरुत्तमभिदा त्रेधा विवृत्योदितो
मोक्षोऽनन्तचतुष्टयामलवपुः सद्ध्यानतः कीर्तितः।
जीयात्सोऽत्र जिनः समस्तविषयः श्रीपूज्यपादोऽमलो
भव्यानन्दकरः समाधिशतकः श्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः॥

अन्वयार्थ–(येन) जिन्होंने (बहिः अंतः उत्तम भिदा त्रेधा) बहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन भेद से (आत्मा) आत्मा को (विवृत्य) अलग करके (उदितः) बताया है तथा (सद्ध्यानतः) सत्य आत्मध्यान के द्वारा (अनंत चतुष्टयामल वपुः मोक्षः) अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्यमयी निर्मल देह रूपी मोक्ष की प्राप्ति का (कीर्तितः) वर्णन किया है ऐसे (सः) वे (समस्त विषयः जितः) सर्व विषयों की वासना

को जीतने वाले, (अमलः) निर्मल, (भव्यानंदकरः) भव्य जीवों को आनंदकर्ता (प्रभुः) परमैश्वर्यधारी एवं (समाधिशतकः श्रीमत्प्रभेन्दुः) समाधिशतक की लक्ष्मी की प्रभा को बढ़ाने के लिए चन्द्रमा के तुल्य (श्री पूज्यपादः) श्री पूज्यपाद आचार्य (अत्र) इस लोक में (जीयात्) जयवंत हों।

भावार्थ–श्री प्रभाचन्द्र आचार्य ने इस श्लोक में अपना नाम भी प्रकट किया है तथा सम्यक् मार्ग दिखाने के कारण श्री पूज्यपाद आचार्य का परमोपकार माना है।

इस भाषा टीका में आचार्य प्रभाचंद्र कृत संस्कृत टीका का बहुत कुछ अवलम्बन लिया गया है अतएव मैं ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद, उदासीन श्रावक, प्रभाचंद्र स्वामी का बारम्बार उपकार मानता हूं।

ग्रन्थ का तात्पर्य

एक बड़े विद्वान् योगी और आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी विक्रम संवत् ४०१ के लगभग हो गए हैं। उनका दूसरा नाम देवनन्दी भी था। उन्होंने इस ग्रन्थ के सिवाय जैनेन्द्रव्याकरण, सर्वार्थसिद्धि और इष्टोपदेश आदि अनेक ग्रन्थों को रचा है। इस ग्रन्थ में उन्होंने आत्मा के कल्याण का उपाय बताया है।

आत्मा एक सत् पदार्थ है। यह जड़ अजीव पदार्थों से निराला है क्योंकि इसका जो मुख्य लक्षण ज्ञानगुण है वह इसके सिवाय अन्य पदार्थों में बिल्कुल नहीं है और जिसका लक्षण भिन्न होता है वह पदार्थ भिन्न ही होता है। जगत में जो यह बात प्रसिद्ध है कि 'इसका जीव चला गया और अब यह मुर्दा पड़ा हुआ है' सो यह कहावत बिल्कुल ठीक है। जब किसी शरीर का स्वामी जीव चला जाता है तब उस शरीर को मृतक कहते हैं और उस शरीर में सब अंग-उपंग बने रहने पर भी कोई चेतनपना नहीं झलकता। शरीर उन जड़ परमाणुओं का समुदाय है जो सदा बदलते रहते हैं और उसमें निरन्तर नये परमाणु आते व पुराने जाते रहते हैं जबकि आत्मा एक अखंड द्रव्य है क्योंकि बाल्यावस्था की याद वृद्धावस्था में भी रहती है और किसी-किसी को अपने पिछले जन्म की बात भी याद आ जाती है। जैसे हवा सब जगह व्यापक है वैसे ही यह आत्मा भी सर्वांग में व्यापक है और इसी कारण दुःख व सुख का वेदन सारी देह के भीतर ही होता है।

अपनी आत्मा का भिन्न स्वरूप नहीं पाता हुआ जगत का यह अज्ञानी प्राणी शरीर को ही आत्मा मान लेता है और निरन्तर यह कल्पना किया करता है कि 'मैं गोरा हूं, काला हूं, मोटा हूं, दुबला हूं, रोगी हूं, निरोगी हूं,

जीता हूं एवं मरता हूं तथा ये पुत्र, स्त्री, मित्र, मकान, गाय, भैंस, कपड़े व गहने आदि मेरे हैं।' इसके सिवाय पुद्गल कर्म के उदय के निमित्त से आत्मा में जो विभाव भाव होते हैं उन्हें भी यह अज्ञानी प्राणी अपने ही भाव मान लेता है अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद तथा मिथ्यात्व आदि भाव जिन्हें संक्षेप में राग, द्वेष, मोह भी कह सकते हैं, आत्मा के स्वाभाविक भाव नहीं हैं पर यह अज्ञानी उन्हें अपने ही भाव समझ लेता है। यदि ये आत्मा के भाव होते तो इनका अस्तित्व सदा एक सा रहना चाहिए था परन्तु ये तो सदा बदलते रहते हैं तथा ये ज्ञान मे बाधक ही है, साधक नहीं और आकुलता के पैदा करने वाले भी हैं। पानी में लाल रंग के सम्बन्ध से जैसे पानी लाल दिखता है वैसे ही आत्मा के चैतन्यमयी उपयोग से जब क्रोध व मानादि कषाय की कलुषता का रंग सम्बन्धित होता है तब उपयोग क्रोध व मानादि भावरूप प्रकट होता है।

अज्ञानी जीव इंद्रियों के विषयों में ही बारम्बार उछलकर जाता है क्योंकि उसे उन विषय भोगों में ही सुख भासता है। वह इन्द्रियों का दास हो जाता है क्योंकि उसे यह नहीं मालूम होता कि इन्द्रियसुख से विलक्षण भी कोई ऐसा सच्चा सुख है जो आत्मा का स्वभाव है। वास्तव में देखा जाये तो अपनी इसी मिथ्याश्रद्धा के आधीन होकर वह अज्ञानी जीव देह के सुख में लीन रहता है एवं देह के उपकारी बन्धु और पदार्थों से तो प्यार तथा उसके हानिकारक लोगों व पदार्थों से द्वेष करता है। मिथ्या श्रद्धा-वश ही वह धनादि का खूब संग्रह करता है और मरण से डरता रहता है। तृष्णा के आधीन हो न्याय, अन्याय, कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य का भी वह कुछ विचार नहीं करता। इस दशा में अज्ञानी आत्मा अनादि काल से ही पड़ा हुआ है क्योंकि इस जगत का कोई आरम्भ नहीं है। यह जगत प्रवाह रूप से सदा से चला आ रहा है। बीज और वृक्ष की तरह इस आत्मा के रागद्वेषमोह भावों से कर्मों का बंध होता है और कर्मों के बंधन से राग-द्वेषमोह होते हैं। जैसे कनक पाषाण खान में सदा अशुद्ध ही मिलता है और ऐसा कभी नहीं हो सकता कि शुद्ध सुवर्ण फिर कनक पाषाण की दशा में

चला जाये वैसे ही जीवात्मा भी अनादि से अशुद्ध है, यदि यह पहले कभी शुद्ध ज्ञानानन्दमयी होता तो फिर इसके साथ कर्मों के संयोग का कोई कारण नहीं हो सकता था।

इस प्रकार अपने द्वारा धारण की जाने वाली प्रत्येक देह में यह आत्मा अनादि काल से अपनी मिथ्या बुद्धि के कारण पर्याय बुद्धि ही रहा अर्थात् शरीर में ही उन्मत्त रहा। चारों गतियों में भ्रमण कर इसने अपने को देव, मनुष्य, पशु व नारकी इत्यादि रूप से ही माना किया और कभी भी इसे यह श्रद्धा नहीं हुई कि मैं अनंतानंत ज्ञान शक्ति का धारी, अचल स्वभाव वाला, वीतराग, परमानन्दमय और इन्द्रियों का विषय न होकर मात्र स्वानुभव गोचर हूं। यह नियम है कि पर पदार्थों को अपनाने वाला पर का संयोग पाता रहता है अतः देह को अपना मानने से ही बार-बार देह का लाभ करके यह आत्मा संसार में भ्रमण किया करता है और इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग व जन्म, जरा, मरण, रोग, दरिद्रता आदि अनेक असहनीय संकटों में पड़ जाता है। इस अनादि भ्रम बुद्धि को मिटाकर सच्ची बुद्धि को अपनाने का उपाय आचार्य देव ने इस महान ग्रन्थ में बताया है।

आत्मा की तीन दशाये होती है जिनमें से पहली बहिरात्मदशा त्यागने योग्य, दूसरी अन्तरात्मदशा धारण करने योग्य व तीसरी परमात्मदशा प्राप्त करने योग्य है। 'शरीरादि को आत्मा मानना' यह बहिरात्मबुद्धि है जो कि सर्वथा त्यागने योग्य है। 'मैं आत्मा ही हूं तथा आत्मा के सिवाय कुछ और नहीं हूं' यह अंतरात्मबुद्धि है और इसी बुद्धि का बार-बार अभ्यास करने से परमात्मदशा प्राप्त हो जाती है। अनादि काल से जो बुद्धि उल्टी हो रही है उसे पहले सुलटाना चाहिए। एक बार आत्मा के सच्चे स्वरूप का भली प्रकार निश्चय करके उस ही का बारम्बार अभ्यास करना चाहिए। जैसे बार-बार अभ्यास करने से कोई पाठ कंठस्थ हो जाता है वैसे ही बार-बार आत्मा का इस रूप मनन करने से कि 'मैं स्वयं परमात्मस्वरूप हूं' आत्मपने की सच्ची बुद्धि दृढ़ हो जाती है और पहले की चली आई हुई यह मिथ्याबुद्धि कि 'मैं संसारी हूं, नर हूं, पशु हूं, गोरा हूं, काला हूं, निर्बल हूं, बलवान हूं,

रागी हूँ व द्वेषी हूँ,' नष्ट हो जाती है। बहुत समय के पुराने संस्कार को मिटाने के लिए बहुत बड़ी चेष्टा की आवश्यकता है परन्तु बार-बार का अभ्यास ऐसी चीज है कि उससे अत्यन्त पुरानी बात भी मिटकर नयी बात पैदा हो जाती है। जैसे एक हिन्दी मातृभाषा वाला व्यक्ति यदि बंगाल देश में निरन्तर बंगला वा इंग्लैण्ड में निरन्तर अंग्रेजी बोले तो उसका हिन्दी का अभ्यास बहुत घट जाता है और बंगला वा अंग्रेजी का अभ्यास दृढ़ हो जाता है वैसे ही बार-बार 'सोऽहं, सोऽहं' का अभ्यास करने से जीव की आत्मपने की बुद्धि इतनी दृढ़ हो जाती है कि फिर वह कभी स्वप्न में भी अपने को शुद्ध आत्मा के सिवाय अन्य रूप नहीं मानता।

इस प्रकार युक्ति के बल से चिरकाल अभ्यास करते-करते आत्मा की श्रद्धा जम जाने पर आत्मानुभव तथा स्वरूपाचरण चरित्र के लाभ का उपाय करना चाहिये। सर्वप्रथम बाहरी अन्याय, अभक्ष्य तथा मिथ्यात्व से रुचि हटाकर अपने भावों में निर्मलता लानी चाहिये। जिस देव, गुरु व धर्म से सच्चा आत्मलाभ नहीं है उसकी मान्यता नहीं करनी चाहिए तथा जुआ, शिकार, चोरी, वेश्यासेवन तथा परस्त्री सेवन की रुचि हटा देनी चाहिए। मद्य(सब प्रकार के नशे), मांस व मधु आदि मुख्य अभक्ष्यों की रुचि भी मिटाकर शुद्ध भोजन करने व सदाचार पालने का भाव रखना चाहिये। अपने भावों को स्थिर करने का निरन्तर प्रयास करना चाहिये तथा रोज थोड़ी देर एकांत में बैठकर अपनी श्रद्धा के अनुसार मन को सब तरफ से हटाकर आत्मस्वरूप के विचार में जोड़ना चाहिये। इस बात का अभ्यास निरन्तर तब तक करते रहना चाहिये जब तक आत्मा का अनुभव न हो जाये। चाहे वर्षों तक अभ्यास करना पड़े पर एक दिन अकस्मात् ऐसा अवश्य आयेगा जब जीव का भीतरी मिथ्या भाव गल जायेगा और एक समय में ही उसे सच्चा आत्मानुभव, सम्यग्दर्शन तथा स्वरूपाचरण चारित्र प्राप्त हो जायेगा। इस स्वरूप-प्राप्ति को गुणस्थानों की परम्परा में चौथा अविरत सम्यग्दर्शन का गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में मोक्षमार्ग की सच्ची श्रद्धा तथा आत्मानुभव हो जाता है पर यदि बाद में भी अभ्यास जारी न रक्खा जाय तो यह श्रद्धा थोड़ी देर निर्मल रहकर छूट भी सकती

है अतः एक बार स्वात्मानुभव हो जाने पर भी अभ्यास को छोड़ नहीं देना चाहिये, आत्म-विचार को निरन्तर जारी रखना चाहिये। इस उपाय से चौथे *गुणस्थान में ही क्षयोपशम सम्यग्दर्शन हो जायेगा जिसकी काल-*मर्यादा बहुत अधिक है।

इस प्रकार दीर्घ काल तक रहने वाली श्रद्धा को जमाकर अर्थात् क्षयोपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर अन्तरात्मा हो जाने के पश्चात् पर-मात्मा होने का प्रयास करना चाहिये। इसके लिए अंतरंग में आत्मानु-भव, आत्मध्यान व आत्मसमाधि के अभ्यास को बढ़ाना चाहिये और बहिरंग में बाहरी आकुलताओं को जो कि इस अभ्यास में बहुत अधिक बाधक होती हैं, घटाने के लिए पंचम गुणस्थान की प्राप्ति कर श्रावक की क्रिया पालनी चाहिये। अंतरंग समाधिभाव पाने के लिये आचार्य देव ने इस ग्रंथ में बहुत तरह से समझाकर मन वचन काय के विकल्प-जालों को हटवाया है। संसारी जीवों के यह कल्पना रहा करती है कि अमुक मेरा शत्रु है और अमुक मित्र। इस कल्पना को मिटाने के लिये ऐसा सोचना चाहिये कि अज्ञानी तो मेरी आत्मा को देख ही नहीं सकता अतः वह मेरी आत्मा का शत्रु वा मित्र नहीं हो सकता तथा ज्ञानी मेरी आत्मा को देख सकता है पर वह शुद्ध स्वभाव का जानने वाला तथा वीतरागी होता है अतः वह भी मेरी आत्मा का शत्रु वा मित्र नहीं हो सकता। भाव यही है कि अंत-रात्मा को ऐसा विचारना चाहिये कि मेरी आत्मा से जो ये शरीरादि बंधन को प्राप्त हो रहे हैं उनसे ये जगत के लोग शत्रुता व मित्रता करते हैं पर मेरी आत्मा का तो न कोई शत्रु हो सकता है और न मित्र।

आगे आचार्य कहते हैं कि समाधिभाव के लाभ के लिये ऐसी दृढ़ श्रद्धा भी हो जानी चाहिए कि मेरी आत्मा का स्वरूप विकल्परहित है तथा मात्र अनुभवगोचर है। अन्य कोई मुझे आत्मा का स्वभाव वचनों से नहीं समझा सकता और मेरा यह अहंकार करना भी वृथा है कि मैं उस आत्म-स्वरूप को दूसरों को समझा सकता हूं। इस तरह अंतरंग में *जितने प्रकार के भी विकल्प हों उन सबको दुःखदायी व कर्मबंधकारक*

जानकर छोड़ देना चाहिए। संक्षेप में मन वचन काय की सारी क्रियाओं से और समस्त द्रव्यकर्मों व नोकर्मों से भिन्न निज आत्मा को अपने उपयोग द्वारा अनुभव करना चाहिए तथा ऐसा समझना चाहिए कि जो परमात्मा है सो ही मैं हूं तथा जो मैं हूं सो ही परमात्मा है अतः मैं आप अपने ही द्वारा अनुभव करने योग्य हूं। बार-बार भेद विज्ञान के अभ्यास से जब अपने स्वरूप में रुचि हो जाती है तब निज ज्ञानोपयोग अपने आप ही अपने आप में लीन होने लगता है। इस तरह श्रद्धा की नींव पर उपयोग की थिरता करके आत्म-समाधि की चेष्टा करनी चाहिए। इसी चेष्टा को अंतरंग सम्यग्चारित्र का अभ्यास कहते हैं।

इस अभ्यास को बढ़ाने में श्रावक की बाहरी क्रिया भी सहायक पड़ती है क्योंकि वह आकुलताओं को घटाती है अतः देशविरत नामक पंचम गुणस्थान में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का अभ्यास करना चाहिए जिनका संक्षिप्त स्वरूप नीचे लिखे प्रमाण है—

पहली दर्शन प्रतिमा—दर्शन प्रतिमाधारी को अर्हंतदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिनधर्म का व जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष-इन सात तत्त्वों का पक्का श्रद्धान करना चाहिये। उसमें आत्मोन्नति व अतीन्द्रिय सुख के लाभ की तीव्र रुचि होनी चाहिए और सम्यक्त्व को बिगाड़ने की सामर्थ्य रखने वाले निम्नलिखित पच्चीस दोषों से उसे बचना चाहिए—

(१) जिनधर्म और उसके तत्त्वों में शंका करना (२) भोगाभिलाष से धर्म सेवना (३) रोगी, शोकी, दरिद्री व दुःखी मनुष्यों और पशुओं से ग्लानि करना (४) मूढ़ता से देखादेखी कुधर्म की क्रियायें करना (५) सच्चे जिनधर्म से डिगते हुए स्वयं को व दूसरों को स्थिर न करना (६) धर्मात्माओं के द्वारा भूल से दोष हो जाने पर उनकी निन्दा करना (७) सच्चे धर्मधारियों से भी गो-वत्स सम प्रीति न करना (८) सच्चे धर्म की उन्नति व प्रभाव को न बढ़ाना (९-१६) जाति, कुल, रूप, बल, विद्या, धन, अधिकार तथा तप—इन आठ बातों का अभिमान करना (१७-१९) देव-

मूढ़ता, गुरुमूढ़ता तथा लोकमूढ़ता को अच्छा समझना (२०-२५) कुदेव, कुगुरु, कुधर्म तथा इन्हें सेवने वाले भक्त जो कि अनायतन हैं, उनकी संगति करना।

इसके साथ-साथ उसे नीचे लिखे आठ मूलगुण पालने चाहिए–

(१) मद्य-त्याग–शराब, गांजा, चरस, भांग, तम्बाकू व अफीम आदि जितने भी नशे हैं, उन सबको छोड़ देना चाहिए।

(२) मांस-त्याग–सूखे हुए या भुने हुए आदि किसी भी प्रकार के मांस को नहीं खाना चाहिए और न ही मांस या चमड़े से छुए हुए घी व तेलादि को लेना चाहिए। मांसाहारी व मद्यपायी के हाथों का भोजन नहीं करना चाहिए और न ही उसके बर्तनों में कुछ खाना चाहिए। मांसाहार के दोष से बचने के लिए दिन में ही खाने-पीने का यथाशक्ति अभ्यास रखना चाहिए और ऐसे फलादि को भी नहीं खाना चाहियेजिनमें त्रसजीव पड़ गये हों या जो त्रसजीवों की योनि हों जैसे गूलर, बड़, पीपल, पाकर और अंजीर आदि। प्रत्येक खाद्य पदार्थ और अर्क, शर्बत व दूध आदि भी मर्यादा के भीतर का ही लेना चाहिए क्योंकि मर्यादा से बाहर की वस्तुओं में आंख से दिखाई न देने वाले कीड़े पैदा हो जाते हैं अतः उनका भक्षण करने में मांसाहार का दोष आता है। भारतवर्ष की ऋतु के अनुसार भोजन की मर्यादा इस प्रकार है–

दाल, भात, खिचड़ी व कढ़ी की छह घण्टे की; पूरी, रोटी व मुलायम पकी हुई चीजों की सांझ से पहले दिन भर की; लड्डू, बरफी, पेड़ा, सुहाली व मठरी आदि अग्नि के ऊपर खूब पककर कड़े हो जाने वाले पदार्थों की चौबीस घण्टे की; आटे आदि पिसे हुए पदार्थों की जाड़े में सात, गर्मी में पांच व वर्षा में तीन दिन की, बने हुए बूरा की व पानी और अन्न के बिना बनी मिठाई की जाड़े में एक मास, गर्मी में पन्द्रह दिन और वर्षा में सात दिन की तथा पानी बिना बनी अन्न की मिठाई की मर्यादा आटे के समान है। छने हुए पानी और उसी वक्त निकाले हुए दूध की अड़तालीस मिनट की मियाद है और इन्हें यदि तभी औटा लो

से चौबीस घंटे तक काम में लिया जा सकता है। बिना उबले हुए छने पानी का चंदन वा लवंग आदि का चूरा डालने से उसका रूप, रस, गंध व स्पर्श बदल जाने पर छह घंटे तक प्रयोग किया जा सकता है। औटाये हुये दूध से बने दही की मर्यादा चौबीस घंटे की है। यह मियाद जिस समय दूध में जामन लगे तब से लेनी चाहिये। औटाये हुये दूध का मक्खन निकालकर उसी समय अंतर्मुहूर्त के भीतर ताए हुये घी की मर्यादा तब तक है जब तक उसका स्वाद न बिगड़े।

(३) मधु-त्याग—मधु वा शहद नहीं खाना चाहिये क्योंकि एक तो इसके निकालने में बहुत से जंतुओं को कष्ट पहुंचता है और दूसरे बहुत काल तक रहने से इसमें बहुत से जीव पैदा हो जाते हैं। गोभी व कचनार आदि फूलों को भी नहीं खाना चाहिये।

(४) अहिंसा अणुव्रत का अभ्यास—प्रतिमाधारी को संकल्प या इरादा करके त्रस जीवों का घात नहीं करना चाहिये। उसे शिकार नहीं खेलना चाहिये और कागज के चित्र वा मिट्टी की मूर्ति आदि को भी कषायवश तोड़ना फोड़ना नहीं चाहिये। मांस का व पशुओं आदि का व्यापार नहीं करना चाहिये। धर्मादि के नाम पर या अतिथियों के लिए भी पशुघात नहीं करना चाहिये और जीव दया का भाव चित्त में रखकर आरम्भादि कार्यों में यथासंभव त्रस व स्थावर की हिंसा बचाते हुये जीवन बिताना चाहिये। असि (युद्धकर्म), मसि (लेखन क्रिया), कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या व रसोई आदि के आरम्भों में होने वाली हिंसा का संकल्पीहिंसा-त्याग में त्याग नहीं होता। आरम्भी हिंसा का बिलकुल त्याग तो आठवीं प्रतिमा या फिर श्रेणी में होता है पर नीचे इसे यथाशक्ति कम करने का अभ्यास करना चाहिये।

(५) सत्य अणुव्रत का अभ्यास—दूसरों को ठगने के लिये झूठ नहीं बोलना चाहिये और अहिंसा को ध्यान में रखते हुए दूसरों को दुःख देने वाले कड़वे और कठोर वचन भी नहीं बोलने चाहिए। जिससे दूसरों के प्राण चले जायें ऐसे सत्य को भी नहीं बोलना चाहिए।

(६) अचौर्य अणु व्रत का अभ्यास—दूसरे का माल चुराना, लूटना या ठगे से नहीं लेना चाहिए। अचौर्य अणु व्रत में जुआ न खेलना भी गर्भित है अतः दर्शन प्रतिमा वाला सच्चा या झूठा किसी भी प्रकार का जुआ नहीं खेलता और ताश, गंजफा व शतरंज आदि में भी तीव्र कषाय, समय का दुरुपयोग तथा चोरी समझकर उन्हें भी त्याग देता है।

(७) परस्त्रीत्याग या ब्रह्मचर्य अणु व्रत का अभ्यास—अपनी विवाहिता स्त्री में संतोष रखना चाहिए और परस्त्री व वेश्या आदि का सेवन नहीं करना चाहिए। वेश्याओं के लुभाने वाले नृत्य तथा गीत नहीं देखने सुनने चाहिए। व्यभिचारिणी स्त्रियों से किसी तरह का कोई हँसी मजाक आदि नहीं करना चाहिए और न ही उनके पास उठना बैठना चाहिए।

(८) परिग्रह-परिमाण या परिग्रहत्याग अणु व्रत का अभ्यास—मूर्च्छा नाम परिग्रह का है। इस ज्ञानी को प्रत्येक पदार्थ में ममता छोड़कर और अति तृष्णा घटाकर अपने प्रयोजन लायक सामग्री रखने का नियम रूप अभ्यास करना चाहिए।

इन आठ मूलगुणों को दर्शन प्रतिमा वाला पालता है तथा आत्मानु-भव की सिद्धि के लिए नीचे लिखे छह कर्मों का वह प्रतिदिन अभ्यास करता है—

(१) श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा (२) निर्ग्रंथ गुरुओं की भक्ति (३) शास्त्रों का स्वाध्याय (४) तप या ध्यान के लिये प्रातः व सन्ध्या समय में सामा-यिक का साधना (५) मन व इन्द्रियों के निरोध के लिए नित्य भोगोप-भोग सामग्री का नियम करना व यथाशक्ति जीवदया साधना एवं (६) आहार, औषधि, विद्या तथा अभयदान, पात्रों को तो भक्ति से व दीन-दुखियों को दया बुद्धि से देना।

इन छह कर्मों का साधन आगे की सात प्रतिमाओं तक वह बराबर करता है और इनमें से भी सामायिक का अभ्यास निरन्तर बढ़ाता जाता है क्योंकि आत्म-समाधि का यह मुख्य साधन है।

दूसरी व्रत प्रतिमा—दर्शन प्रतिमा में जो निपुण हो जाता है वह इस प्रतिमा को धारण करता है। व्रत प्रतिमाधारी को बारह व्रत पालने चाहिए और निरन्तर समाधिमरण की भावना करनी चाहिए। ऊपर कहे हुए अहिंसादि पांच अणुव्रत और सात शील अर्थात् तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—ये बारह व्रत होते हैं। पांच अणुव्रतों को उसे निरतिचार पालना चाहिए। एक एक व्रत के पांच-पांच अतिचार और पांच-पांच ही भावनायें होती हैं जिन्हें 'तत्त्वार्थसूत्र' ग्रन्थ से जान लेना चाहिये। यद्यपि इन व्रतों का पच्चीस भावनाओं सहित सर्वदेश पालन तो साधुओं के ही होता है पर एकदेश गृहस्थी श्रावक को भी करना चाहिए। अणुव्रतों की रक्षा व गुणाकार वृद्धि के लिए और मुनिव्रत की शिक्षा के लिए निम्न-लिखित गुणव्रत और शिक्षाव्रत होते हैं—

गुणव्रत—(१) दिग्व्रत—लौकिक काम के लिये दशों दिशाओं में जन्म-पर्यन्त जाने की और वहाँ वस्तु भेजने व वहाँ से मंगाने की मर्यादा बांध लेना (२) देशव्रत—एक दिन, दो दिन आदि नियमित काल के लिये दिग्व्रत में की हुई दशों दिशाओं की मर्यादा को घटाकर कम करना एवं (३) अनर्थदंडव्रत—बिना प्रयोजन के ये कोई भी पाप न करना जैसे पाप का उपदेश देना, दूसरों की बुराई विचारना, दूसरों को हिंसाकारी पदार्थ देना, प्रमाद से चर्या करना तथा खोटी कथायें सुनना व पढ़ना।

शिक्षाव्रत—(१) सामायिक—एक, दो व तीन समय प्रतिदिन एकांत में थिरता से बैठकर वैराग्यमयी पाठ पढ़ना और जाप व ध्यान करना (२) प्रोषधोपवास—प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी के दिन उपवास करना और यदि शक्ति न हो तो एक समय भोजन करना (३) भोगोपभोग परिमाण—एक घंटा वा एक दिन आदि थोड़े वा अधिक काल के लिये भोग्य और उपभोग्य पदार्थों का नियम कर लेना और आवश्यकता से अधिक पंचेन्द्रियों के भोगों को त्याग देना एवं (४) अतिथि संविभाग—भिक्षावृत्ति से घूमने वाले धर्मपात्रों को अपने भोजन में से भाग देना। व्रती व अव्रती श्रावकों को तो भक्ति से देना और अन्य सबको दया से देना।

सात शीलों को व्रतप्रतिमाधारी को निरतिचार पालना चाहिए प्रत्येक शील के पांच-पांच अतिचार होते हैं जिन्हें 'तत्वार्थसूत्र' से जान लेना चाहिए। इसे नित्यप्रति यह भावना करनी चाहिए कि मेरा मरण समताभावसहित धर्मध्यानपूर्वक हो। मरण को निकट आता देखकर इसे कषाय व काय को धीरे-धीरे कृश करते हुये आत्म भावना पूर्वक मरने का साहस करना चाहिये और सल्लेखना के इन पांच संभवरूप दोषों को बचाना चाहिए-(१) अधिक जीने की इच्छा (२) जल्दी मरने की वांछा (३) लौकिक मित्रों से प्रीति (४) पिछले भोगे हुये भोगों के सुख को याद करना और (५) आगामी भोगों की लालसा रखकर निदान करना।

इस प्रकार यह व्रत प्रतिमा वाला श्रावक यथासम्भव बाहरी आकुलताओं को घटाता हुआ देवपूजादि शुभ कार्यों में अधिक से अधिक लगता है और मुख्यता से आत्मध्यान द्वारा समाधिभाव पाने का पुरुषार्थ करता रहता है। फिर इस प्रतिमा का अभ्यास बढ़ जाने पर ग्रहण किये हुए नियमों को न छोड़ता हुआ वह निम्नलिखित आगे की प्रतिमाओं को धारण करता जाता है और उनमें बाहरी चारित्र के साथ-साथ अंतरंग चारित्र को भी बढ़ाता जाता है।

तीसरी सामायिक प्रतिमा—तीनों संध्याओं में अर्थात् सुबह, दोपहर व शाम को इस प्रतिमा का धारी नियम से कम से कम दो घड़ी अर्थात् अड़तालीस मिनट तक सामायिक करता है और कभी इससे कुछ कम भी कर सकता है।

चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा—प्रत्येक अष्टमी चौदस को समस्त आरम्भ का त्याग कर सोलह, बारह या कम से कम आठ पहर का उपवास करता है अथवा सोलह पहर तक आरम्भ त्यागकर निर्जल, जल सहित वा मध्य में एकाशन सहित रहकर धर्म ध्यान करता है।

पांचवी सचित्त त्याग प्रतिमा—सचित्त अप्रासुक भोजनपान नहीं

करता। एकेन्द्रिय जीवों से भी रहित गर्म या प्रासुक पानी पीता व भोजन करता है। एकेन्द्रिय सचित्त वस्तु सुखाने, पकाने, गर्म करने, कषायले द्रव्य से मिला देने वा यन्त्र से छिन्न-भिन्न कर देने पर अचित्त या प्रासुक हो जाती है। द्वीन्द्रियादि जीवों के कलेवर को मांस कहते हैं जो कि सूखा हुआ भी लेने योग्य नहीं है।

छठी रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा–रात्रि को नियम से खाद्य, स्वाद्य (स्वादयुक्त), लेह्य (चाटने योग्य) और पेय–इन चार तरह के भोजनों को न तो आप ही करता है और न दूसरों को ही कराता है। रात्रि में भोजन सम्बन्धी आरम्भ भी नहीं करता।

सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा–अपनी स्त्री का भी त्याग कर देता है। ब्रह्मचारी होकर सादे वस्त्र पहन उदासीन भाव से घर में रहता है या परोपकारार्थ देशाटन करता है।

आठवीं आरम्भ त्याग प्रतिमा–व्यापार, वणिज व रोटी, पानी आदि का आरम्भ छोड़कर, घर में या बाहर जो कुछ भी मिल जाये उसे खाकर संतोष रखता हुआ धर्म साधन करता है और सवारी आदि का भी आरम्भ त्याग देता है।

नौवीं परिग्रह त्याग प्रतिमा–अपनी सब जायदाद दान-धर्म में लगाकर वा पुत्रादिकों को सौंपकर कुछ वस्त्र व बर्तन रख लेता है और शेष सब कुछ छोड़ देता है। किसी के द्वारा बुलाये जाने पर संतोष से भोजन कर लेता है।

दसवीं अनुमति त्याग प्रतिमा–सांसारिक कार्यों में सम्मति देने वा अनुमोदना करने का भी त्याग कर देता है।

ग्यारहवीं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा–इस प्रतिमा में श्रावक क्षुल्लक पदधारी हो जाता है। अब वह अपने निमित्त से बनाया हुआ भोजन नहीं लेता और घर से बाहर मुनियों आदि के पास रहता हुआ धर्म साधन करता

है। बैठकर पात्र में भिक्षावृत्ति से भोजन करता है और अपने केशों को उस्तरे से कतरवाता है। पहनने के लिए एक खंडवस्त्र और लंगोटी, जीव दया के लिये मयूर पंखों की एक पिच्छी और शौच के लिये एक कमंडल रखता है। धीरे-धीरे परिणामों की और विशुद्धि बढ़ जाने पर वह खंडवस्त्र का भी त्याग करके ऐलक हो जाता है और मात्र एक लंगोटी रखता है, हाथों से बालों का लोंच करता है, खड़े होकर भिक्षावृत्ति से हाथ में ही भोजन करता है तथा मुनि के चारित्र का अभ्यास करता है। यहां तक बढ़ते-बढ़ते आत्मध्यान की थिरता बढ़ती चली जाती है और समाधि का अभ्यास बहुत मजबूत हो जाता है।

मुनिव्रत का धारण–तीव्र वैराग्य के आने पर वह लज्जा को जीतता हुआ लंगोटी का भी त्याग करके मुनि हो जाता है। जीव दया के लिए पिच्छी, शौच व गर्म जल के लिए काठ का कमंडल और ज्ञान के लिए एक या दो शास्त्र रखता है और नीचे लिखा तेरह प्रकार का चारित्र पालता है–

(१) अहिंसा महाव्रत–त्रस व स्थावर किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना (२) सत्य महाव्रत–किसी भी निमित्त से जरा सा भी असत्य वचन नहीं बोलना (३) अचौर्य महाव्रत–बिना दिये हुए पानी वा फल-फूलादि को भी ग्रहण नहीं करना (४) ब्रह्मचर्य महाव्रत–मन वचन काय से स्त्री मात्र की इच्छा को व काम के भाव को त्याग देना (५) अपरिग्रह महाव्रत–क्षेत्र, वस्त्र आदि सर्व बाहरी व रागद्वेषादि भीतरी परिग्रह का त्याग करना (६) मनोगुप्ति–मन को आत्माधीन रखना (७) वचन गुप्ति–वचन बन्द कर मौन रहना (८) काय गुप्ति–प्रमाद रहित होकर शरीर को अपने वश में रखना (९) ईर्या समिति–दिन में चार हाथ जमीन आगे देखकर पहले से ही रौंदे हुये मार्ग पर जीवदया पालते हुए चलना (१०) भाषा समिति–बहुत ही कम, मीठे व शास्त्रानुसार वचन बोलना (११) एषणा समिति–भिक्षावृत्ति से श्रावक के घर पर अपने ही हाथ में उसके द्वारा दिया हुआ निर्दोष आहार खड़े होकर अंतरायों को टालते

हुए लेना (१२) आदान निक्षेपण समिति—निज शरीर, शास्त्र, कमंडल व पीछी को देखकर रखना व उठाना एवं (१३) प्रतिष्ठापना समिति—साव-धानी से देखकर निर्जंतु भूमि में मलमूत्रादि क्षेपण करना।

उपरोक्त चारित्र पालता हुआ वह मुनि वनादि एकांत स्थान में रहकर समाधिभाव का दृढ़ अभ्यास करता है। जैसा निर्मल ध्यान मुनि के होता है वैसा श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में नहीं होता। वह मुनि बहुत ही शांत व कोमल स्वभावी एवं अहंकार ममकार रहित होता है और 'मैं मुनि हूं, तपस्वी हूं व ज्ञानी हूं' ऐसा मद उसे जरा भी नहीं होता। वह बाहरी वेष को मुक्ति का कारण न जानकर उसे केवल निमित्त व सहकारी समझता है और मुक्ति का कारण तो मात्र आत्मसमाधि को ही जानता हुआ उसी का निरन्तर अभ्यास करता है। शरीर का सुखिया-पना मिटाने को कठिन-कठिन कष्टों व उपसर्गों को सहकर भी वह ध्यान करता है और जब ध्यान में चित्त नहीं लगता तब वाचना, पूछना, चिन्त-वना, आम्नाय (बारम्बार घोखना) व धर्मोपदेश रूप पांच प्रकार की स्वाध्याय करता है। वह बड़ा ही परोपकारी होता है और जीव मात्र पर दयावान होता है।

अभ्यास दशा के रहने तक वह मुनि कभी प्रमत्त नामक छठे और कभी अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान में जाता है पर जब ध्यान की निर्मलता बढ़ती है तब वह अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण नामक आठवें और नौवें गुणस्थान में होता हुआ सारी कषायों को दबाकर या क्षयकर केवल सूक्ष्मलोभ के उदय में सूक्ष्मसांपराय नामक दसवें गुणस्थानवर्ती होता है। फिर सूक्ष्म लोभ को यदि दबाता है तो ग्यारहवें उपशांतमोह गुणस्थान में और यदि क्षय करता है तो ग्यारहवें में न जाकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में वह जाता है। बारहवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त ठहरकर ध्यान के बल से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मों का भी क्षय करके तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान में पहुंचकर वह परमात्मा हो जाता है। चौथे से बारहवें तक जो अन्तरात्मा था वही परमात्मा की

भावना करता-करता तेरहवें गुणस्थान में स्वयं परमात्मा हो जाता है। सयोगकेवली परमात्मा के शरीर में हड्डी, मांस व रुधिर आदि की दशा पलट जाती है और उनका शरीर शुद्ध स्फटिक के समान होकर आकाश में अधर रहता है। जब तक आयु है तब तक इस अरहंत पद के भीतर रहना होता है और इसमें कोई भूख, प्यास, रोग व शोकादि दोष नहीं होते। वे परमशांत वीतरागी प्रभु सदा ही आत्मलीन रहते हैं। चार अघातिया कर्मों के उदय होने से स्वतः ही बिना इच्छा के उनका विहार व उपदेश होता है जिससे अनेक जनों को मोक्ष का सच्चा मार्ग मिलता है। आयु कर्म के निःशेष होने की दशा में चौदहवां अयोगकेवली गुणस्थान हो जाता है और उसके बाद शरीरादि सर्व पुद्गल सम्बन्धों से रहित होकर वे परमात्मा अग्नि की लौ के समान सीधे ऊपर की ओर जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहाँ तक जाते हैं और लोकाकाश के अंत में जाकर स्थिर हो जाते हैं। इस पद को मोक्षपद तथा इस पद को प्राप्त आत्मा को सिद्ध परमात्मा कहते हैं। कर्मबंध व उसके कारणों से सर्वथा रहित हो जाने के कारण वे सिद्ध भगवान फिर संसारवास में नहीं आते।

इस तरह भेदविज्ञान के प्रताप से सच्चे आत्मस्वरूप का लाभकर फिर आत्मसमाधि को प्राप्त करता हुआ यह जीव बहिरात्मा से अंतरात्मा और फिर अंतरात्मा से परमात्मा हो जाता है। आत्मशुद्धि का एकमात्र उपाय भेदविज्ञान व आत्म-समाधि ही है और उसी की प्राप्ति का उपाय आचार्य महा-राज ने इस ग्रन्थ में भली प्रकार दर्शा दिया है।